

धम्मो दीवो पइट्ठो

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

प्रकाशक :

आदर्श साहित्य विभाग

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनू-341306

जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (01581) 226080,244671

ई-मेल : books@jvbharati.org

Books are available online at

<https://books.jvbharati.org>

© जैन विश्व भारती, लाडनू

संस्करण : 2021

मूल्य : 00/- (..... रुपये मात्र)

₹.....

मुद्रक :

DHAMMO DIVO PAITTHA
by Sadhvipramukha Kanakprabha

शुभाशंसा

साहित्य ज्ञान का संवाहक होता है। किसी भी संस्कृति को परम्परित बनाए रखने में साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। अपेक्षा इस बात की रहती है कि साहित्य प्राणवान हो। वह केवल शब्दों का समूह ही नहीं, वह अपने ठीक निशाने पर वेध करने वाला भी होना चाहिए। वह पाठक के लिए सुबोध और सुग्राह्य भी होना चाहिए। कोई-कोई साहित्य दुर्बोध भी हो सकता है, जिससे पाठक के मस्तिष्क की एक्सरसाइज हो सके और जो कुछ गंभीर अध्येताओं की दृष्टि से ही निर्मित किया गया हो।

हमारे धर्मसंघ जैन श्वेताम्बर तेरापंथ में साहित्य की सुर-सरिता भी अपनी गति से प्रवहमान है। परमपूज्य आचार्य भिक्षु, परमपूज्य श्रीमद् जयाचार्य, परमपूज्य गुरुदेव आचार्य तुलसी और परमपूज्य आचार्य महाप्रज्ञ आदि के साहित्य को हमारे धर्मसंघ के परिप्रेक्ष्य में महिमामण्डित साहित्य के रूप में देखा जा सकता है।

महाश्रमणी, संघमहानिदेशिका असाधारण साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने भी हमारे धर्मसंघ की साहित्य-सम्पदा को संवर्धित करने में अपना विशिष्ट योगदान प्रदान किया है। साध्वीप्रमुखाजी हिन्दी, संस्कृत आदि अनेक भाषाओं की विदुषी है। भाषायी ज्ञान के साथ-साथ उनकी काव्य प्रतिभा भी श्लाघनीय है। साहित्य-सम्पादन में उन्होंने कौशल प्राप्त किया है ऐसा प्रतीत होता है। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी के साहित्य को प्रकाशनाई बनाने में उन्होंने अपनी प्रतिभा का भी भरपूर उपयोग किया। तेरापंथ द्विशताब्दी के अवसर पर दीक्षित हुई साध्वीप्रमुखाजी की साहित्यिक प्रतिभा ने सम्पादन की सीमा पारकर लेखन-सिन्धु में भी अवगाहन किया है। उनकी स्वयं की लिखित पुस्तकें भी हमारे धर्मसंघ के साहित्य-सन्दोह का एक सुन्दर हिस्सा है।

साध्वी-समुदाय आदि के प्रबन्धन-प्रशासन कार्य में पिछले करीब पचास वर्षों से अपनी सेवा अर्पण करने वाली साध्वीप्रमुखाजी का साध्वीप्रमुखा काल का पचासवां वर्ष चल रहा है। इस उपलक्ष्य में मेरे इंगित के अनुसार उनके साहित्य को नए रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। जीवन के नौवें दशक में यात्रायित साध्वीप्रमुखाजी लम्बे काल तक अन्यान्य सेवाओं के साथ साहित्य-जगत की भी सेवा करती रहें। साध्वीप्रमुखा कार्यकाल के अमृत-महोत्सव के उपलक्ष्य में जुड़ा हुआ, नई विधा से प्रस्तुत होने वाला यह साहित्य वाङ्मय जगत की सुषमा को बढ़ाने वाला और पाठक आदि को यथायोग्य पथदर्शन देने वाला सिद्ध हो। साहित्य के नवीन रूप में प्रस्तुतिकरण से उनके अमृत महोत्सव की भी उपयोगिता सुष्ठुरूपेण और अधिक सिद्ध हो, मंगलकामना।

7 सितम्बर, 2021
भीलवाड़ा

आचार्य महाश्रमण

पुरोवाक्

प्राचीन साहित्य में कुछ अनेक मिथ उपलब्ध है। उनमें कल्पवृक्ष, कामधेनू, चिन्तामणि रत्न आदि प्रमुख हैं। इन मिथकों का तात्पर्य यह है कि कल्पवृक्ष व्यक्ति की सब इच्छाएं पूरी कर देता है। कामधेनू कामनापूर्ति का माध्यम है। चिन्तामणि रत्न जिसके पास होता है, वह जो चिन्तन करता है, उसे प्राप्त हो जाता है। कामकुम्भ याचक को मनोवाञ्छित वस्तु उपलब्ध करा देता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में कुछ कथाएं भी प्रचलित हैं। वे कथाएं काल्पनिक हैं अथवा वास्तविक—यह कहना कठिन है।

एक बार मैं इस सन्दर्भ में सोच रही थी कि संस्कृत भाषा का एक श्लोक स्मृति पटल पर उभर आया—

**संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणोरपि।
असंकल्प्यमसच्चिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते॥**

कल्पवृक्ष का फल है संकल्पित वस्तु की उपलब्धि और चिन्तामणि रत्न का फल है चिन्तित वस्तु की प्राप्ति, किन्तु धर्म इनसे भी बढ़कर है। उससे वह फल प्राप्त होता है जिसका संकल्प और चिन्तन भी न हो।

मेरे लिए चिन्तन का एक नया विषय उपस्थित हो गया। मैं सोचने लगी कि धर्म में ऐसी क्या शक्ति है, जो उसकी इतनी महिमा गाई गई है। धर्म के बारे में चिन्तन का एक नया स्फुलिंग स्फुरित हुआ—

**जरामरणवेगेणं वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं॥**

बुढ़ापा और मृत्यु का प्रवाह निरन्तर गतिशील है। उसमें संसारी प्राणी बहते जा रहे हैं। उनके लिए धर्म ही एक ऐसा तत्व है जो द्वीप है, आधार है,

प्रतिष्ठा है और उत्तम गति है। धर्म का क्षेत्र व्यापक है। अनेक अर्थों में धर्म शब्द व्यवहृत किया जाता है। यह मनुष्य के लिए उत्कृष्ट आधार है। मूलतः धर्म वह है जो आत्मशुद्धि का साधन है। आत्मशुद्धि के अनेक उपाय हैं। उन उपायों को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है। महावीर वाणी में धर्म को उत्कृष्ट मंगल बताया गया है। आत्मशुद्धि के साधक धर्म को ही धम्मो दीवो पइट्ठो पुस्तक में व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। पाठक इससे आध्यात्मिक मार्गदर्शन कर सके, ऐसी शुभाशंसा के साथ।

भीलवाड़ा

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

17-11-2021

अनुक्रम

शुभाशंसा	3
पुरोवाक्	5
1. सबसे श्रेष्ठ धर्म कौन-सा ?	9
2. धर्म का मर्म	13
3. इस संसार में दुर्लभ क्या है ?	16
4. उद्घाटन हो अन्तश्चक्षु का	20
5. सत्य की खोज	23
6. जीवन का उद्देश्य	26
7. गुरु बदल सकते हैं जीवन की दिशा	30
8. सर्वोपरि ध्येय	35
9. मूढ़ व्यक्ति धर्म को नहीं जानता	38
10. क्या धर्म प्रदर्शन में है ?	42
11. अनासक्ति की चेतना जागे	45
12. मंत्र की शक्ति	48
13. पाप कौन नहीं करता ?	51
14. धर्म : जिज्ञासा और समाधान	56
15. सूक्ष्म हिंसा की परख	59
16. अमृत-कलश में विष क्यों ?	63
17. जो सहता है : वह रहता है	68

18. संस्कार निर्माण क्यों?	72
19. लक्ष्य-वेध की प्रक्रिया	76
20. सुख की तलाश	80
21. शांति का आधार	85
22. कैसे हो शांत सहवास?	88
23. बदले जीवन-शैली	93
24. सार्थक दिशा की ओर	99
25. सामञ्जस्य का विज्ञान	104
26. सबसे बड़ा धन है सन्तोष	108
27. सफलता के स्वर्णिम सूत्र	112
28. सोच की खिड़कियां खोलें	117
29. अपने मन के मालिक	122
30. सुखी जीवन के सूत्र	126
31. सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा	130
32. नीतिमान व्यक्तित्व की पहचान	132
33. मूल्य सह-अस्तित्व का	142
परिशिष्ट	
साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा : जीवन-परिचय	150
साध्वीप्रमुखाजी द्वारा सम्पादित साहित्य	154
साध्वीप्रमुखाजी द्वारा आलेखित साहित्य	158

1. सबसे श्रेष्ठ धर्म कौन-सा ?

धर्म आत्मा का शोधन करता है, चित्तवृत्तियों को निर्मल करता है, जीवन का नियमन करता है और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। भारतवर्ष में अनेक धर्मों को माननेवाले लोग हैं। हर व्यक्ति को यह स्वतंत्रता है कि वह किसी भी धर्म को मान सकता है, किसी भी धर्म का अनुयायी बन सकता है और कभी भी अपनी इच्छा से धर्म-परिवर्तन कर सकता है। हर धर्म के कुछ सिद्धांत होते हैं, कुछ मान्यताएं होती हैं, कुछ सूत्र और विधान होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी श्रद्धा और आस्था होती है कि वह किन सिद्धांतों को मानता है और किन मान्यताओं के प्रति समर्पित होता है। भिन्न-भिन्न धर्मों में अनेक ऋषि-महर्षि एवं धर्मनायक अवतरित हुए हैं। उन्होंने धर्म विशेष को प्रतिष्ठित करने एवं लोकमान्य बनाने के लिए अनेक प्रयास किए। उन्होंने व्यक्ति-व्यक्ति को प्रबोध दिया, प्रभावित किया और उनके आत्म-कल्याण की दिशा प्रशस्त की। आज भी परंपरागत तौर पर अधिसंख्य व्यक्ति किसी न किसी धर्म के साथ जुड़े हुए हैं। जो व्यक्ति जिस धर्म को मानते हैं, उनके अनुसार वही धर्म श्रेष्ठ है।

एक बार एक राजा ने अपने दरबार में अनेक धर्मों के गुरुओं, धर्मोपदेशकों व धर्माचार्यों को आमंत्रित किया और निर्देश दिया कि वे सभी अपने-अपने धर्म की मान्यताएं प्रस्तुत करते हुए अपने धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करें। जो धर्म सर्वश्रेष्ठ होगा, उसे राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया जाएगा। सभी धर्मगुरु राजदरबार में एकत्रित हो गए। निर्धारित समय पर एक-एक धर्मगुरु अपने-अपने धर्म का पक्ष प्रस्तुत करने लगे। महीनों तक अच्छी-खासी प्रतियोगिता चली। सभी ने बढ़ा-चढ़ाकर अपने सैद्धांतिक तथ्य प्रस्तुत किए। कोई धर्मगुरु दो दिन तक

बोले, कोई एक तो, कोई तीन-चार दिन तक बताते गए। जिनके पास जितनी जानकारी थी, जितने तथ्य थे, सभी ने अपने-अपने ढंग से अपनी प्रस्तुतियां दीं। सभी धर्मगुरु आश्चर्य थे कि उनका धर्म सर्वश्रेष्ठ है और उनके धर्म को राजधर्म का दर्जा अवश्य प्राप्त होगा। एक धर्मगुरु ऐसे भी थे, जिन्होंने अपना पक्ष प्रस्तुत नहीं किया। राजा के अनुरोध पर वे खड़े हुए और बोले—‘राजन्! आपके प्रश्न का उत्तर मैं कल सुबह नदी के किनारे पर आपको दूंगा। आपको बिना कुछ खाए-पीए कल सुबह नदी के किनारे आना होगा।’ राजा पहले तो थोड़ा विस्मित हुआ, परंतु फिर चिंतनपूर्वक उसने सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी।

दूसरे दिन सुबह-सुबह राजा नदी के किनारे पहुंच गया। अनेक धर्मगुरु वहां पहले से ही उपस्थित थे। सबके मन में एक कुतूहल सा था कि प्रश्न का उत्तर देने के लिए राजा को यहां क्यों बुलाया गया? सबके प्रश्नायित चेहरों को पढ़ते हुए उस अनुभवी धर्मगुरु ने कहा—‘राजन्! आपके प्रश्न का उत्तर नदी के उस किनारे है। हमें नदी पार करके उस तट पर चलना होगा। नदी बड़ी है। आप एक नौका मंगाएं।’ राजा ने अपने कर्मचारियों को आदेश दिया। नाव आ गई। धर्मगुरु ने हर कोण से नौका को देखा-परखा और राजा से कहा—‘यह नौका उपयुक्त नहीं है। आप दूसरी नौका मंगाएं।’ दूसरी नौका आई। धर्मगुरु ने कोई कमी निकालकर उसे भी अनुपयुक्त घोषित कर दिया। कई नौकाएं आईं, पर धर्मगुरु उसे अस्वीकृत करते गए। शाम होने लगी। भूख से राजा का हाल बेहाल होने लगा। अंत में राजा ने कहा—‘महात्मन्! हमारा लक्ष्य है, नदी को पार करना और इस तट से उस तट तक जाना। नाव छोटी हो या बड़ी, किसी भी तरह की क्यों न हो, हम उससे नदी तो पार कर ही सकते हैं। क्यों न हम इतनी नौकाओं में से किसी भी एक नौका का प्रयोग करें।’ धर्मगुरु ने कहा—‘राजन्! आपके प्रश्न का यही उत्तर है। धर्म एक नौका के समान है। सभी धर्मों का यही लक्ष्य होता है कि उसके सिद्धांतों का अनुशीलन कर व्यक्ति संसार-सागर को पार करे। हर धर्म की नौका व्यक्ति को सागर के उस पार ले जाने में समर्थ है। आवश्यकता यह है कि उस पर आरोहण करने वाले व्यक्ति की तैयारी उस पार जाने की हो। धर्म

छोटा-बड़ा नहीं होता, धर्म-धर्म के बीच छोटे-बड़े की सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। हर धर्म अपने आपमें श्रेष्ठ होता है।’

धर्म का काम है—व्यक्ति को शांति का अनुभव कराना, वृत्तियों का उदात्तीकरण करना, नैतिक चेतना को पैदा करना, आचार, विचार और व्यवहार को उन्नत करना और आत्मा को परमात्मा बनाना। धर्म के संदर्भ में सही कहा गया—

स्वस्थ धर्म है धारण करना, सम्यक् ज्ञान दृष्टि आचार।

स्वच्छ धर्म है वही सदा जो करे बुराई का प्रतिकार॥

धर्म को मानने या स्वीकार करने का मतलब यह होता है कि व्यक्ति ने कुछ प्रतिज्ञाएं की हैं या कुछ व्रतों को स्वीकार किया है और वह उनको निभाने या पालन करने के लिए संकल्पित हुआ है। आत्मशुद्धि के शुद्ध साधनों को जीवन में जितना उतारा जा सके, वही धर्म है। आचार्यश्री तुलसी ने श्रावक-संबोध में निर्दिष्ट किया है—

**जो हो संभव अनगार-धर्म का पालन,
तो करें उसी पथ में अपना संचालन।
क्षमता यदि अल्प, अनल्प धर्म में आस्था,
साभार अगार-धर्म का पकड़ें रास्ता॥**

वर्तमान समय में कुछ लोग धर्म के नाम पर हिंसा फैला रहे हैं, कुछ लोग धर्माधता के वशीभूत होकर आतंकवाद बढ़ा रहे हैं एवं आत्मघाती हमले कर रहे हैं जबकि कोई भी धर्म हिंसा, आत्महत्या एवं दहशत फैलाने की इजाजत नहीं देता॥

धर्म के पथ पर अग्रसर होनेवाले हर व्यक्ति को दो शक्तियां पहचाननी आवश्यक है—आत्मशक्ति और इष्ट की शक्ति।

आत्मशक्ति सबसे बड़ी शक्ति है। यही वह शक्ति है जो कुछ करने का निश्चय रखती है। यही वह शक्ति है जो व्यक्ति को दुःख एवं निराशा के कुहासे से बाहर खींचकर सुख और आशा का सूर्य दिखाती है। यही वह शक्ति है जो व्यक्ति को गतिशील रखती है, कभी निष्क्रियता नहीं आने

देती। यही वह शक्ति है जो व्यक्ति को असत्य से सत्य की ओर ले जाती है। यही वह शक्ति है जो व्यक्ति को मृत्यु के मुंह से खींचकर अमरत्व की ओर प्रयाण कराती है। यही वह शक्ति है जो आत्म-तत्त्व को परमात्म-तत्त्व में परिणत करती है। इस आत्मशक्ति को दर-दर भटक कर ढूंढने की जरूरत नहीं है। यह शक्ति तो हर व्यक्ति के अंदर छिपी हुई है। इसे पहचानने की जरूरत है, इसे जागृत करने की आवश्यकता है। इस संदर्भ में आचार्यश्री तुलसी द्वारा रचित गीत की पंक्तियां मननीय हैं—

**भर्यो अनंत अखूट खजानो, गाफिल! थारै घर में रे,
क्यूं न निहारै बारै-बारै, क्यूं भटकै दर-दर में रे?
आग छिपी अरणी में ढूंढै, काठ काट मूरख कठिहारो,
चेतन चिदानंद चरणां में, सबकुछ अर्पण कर थारो॥**

दूसरी शक्ति इष्ट की शक्ति होती है। हर व्यक्ति किसी को अपना आदर्श मानता है, किसी के प्रति सर्वात्मना श्रद्धाप्रणत होता है। वही उसका आराध्य होता है, वही उसका ईश्वर होता है। किसी भी प्रकार की विपत्ति या विपरीत परिस्थिति आते ही ईश्वर का नाम स्वयमेव उसकी जुबान पर थिरकने लगता है। इष्ट के स्मरण से मन में एक अदृश्य शक्ति संचरित होती है और महसूस होता है कि दुःख कम हो रहा है। कठिनाइयां दूर हो रही हैं। दुनिया में हजारों इष्ट हैं और उन सभी को मानने वाले लोग भी हैं। हर इष्ट की आराधना के लिए कुछ मंत्र भी होते हैं जिनके बार-बार उच्चारण करने से साधना सिद्ध होती है। इष्ट की शक्ति और आत्मशक्ति की अनुभूति कर व्यक्ति श्रेष्ठ धर्म की आराधना करे जिससे अनंत-स्वरूप की प्राप्ति हो सके तथा भव-सागर से पार हो सके।

2. धर्म का मर्म

हमारे प्राचीन आचार्यों ने धर्म की धवलिमा को प्रस्तुत करते हुए कहा है—

**संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसच्चिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते॥**

कल्पवृक्ष सामने हो तो व्यक्ति मन में जो भी संकल्प करता है, वह फलवान बन जाता है। चिन्तामणि रत्न पास में हो तो किसी भी भौतिक पदार्थ का चिंतन करने से अभीप्सित की प्राप्ति हो जाती है। किंतु धर्म एक ऐसा तत्त्व है, जिससे ऐसा फल हस्तगत हो जाता है, जिसके लिए संकल्प या चिंतन करने की अपेक्षा ही नहीं रहती।

स्वर्ग के कूपन

मनुष्य कल्पवृक्ष के पास जाता है। अपनी इच्छाओं की संपूर्ति करता है। जैनागमों में दस प्रकार के कल्पवृक्षों का उल्लेख मिलता है। वे कल्पवृक्ष मनुष्य की दैनंदिन आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र, आवास, मनोरंजन आदि को सुसंपादित कर देते हैं। उनकी छाल से वस्त्र, फल-फूलों से आहार, कोटर आदि से आवास की व्यवस्था हो जाती है। धर्म एक ऐसा तत्त्व है जिससे अचिन्त्य फल की प्राप्ति हो जाती है, किंतु आज धर्म का शुद्ध स्वरूप कहां उपलब्ध होता है? धर्म का अर्थ है स्वभाव। वह स्वभाव आज विभाव और अभाव में परिणत हो गया है। धर्म के नाम पर जो विकृतियां पनप रही हैं, उन्हें देख, सुन कर सिर शर्म से नीचा हो जाता है। भोली-भाली जनता को गुमराह करने का इससे बढ़िया फार्मूला और क्या हो सकता है। इतना ही नहीं, धर्म के नाम पर स्वर्ग के कूपन तक बेचे जा सकते हैं।

एक बार किसी गांव में एक कोपीनधारी संन्यासी आया। उसने अपना आसन जमाया। आंखें बंद कर माला फेरी। मंत्रोच्चारण किया। शास्त्र-पाठ किया। लोगों ने दूर से उसकी गतिविधियां देखीं। लोगों को अच्छा लगा। एक-एक कर लोग उसके पास आने लगे। लोगों को आते देखकर उसने अपना कार्य प्रारंभ किया। वह बोला—‘मेरे पास स्वर्ग के कूपन हैं। अपनी कठिन साधना-तपस्या से मैंने यह शक्ति अर्जित की है। यदि आप स्वर्ग जाना चाहें तो इसे खरीद सकते हैं।’

आदमी के मन में स्वर्ग का प्रलोभन व नरक का भय एक जन्मजात संस्कार की तरह जमा हुआ है। सस्ते मूल्य पर सहज रूप में यदि स्वर्ग की प्राप्ति हो तो उसे कौन लेना नहीं चाहेगा? देखते-देखते उसके इर्द-गिर्द अच्छी खासी भीड़ जमा हो गई। वह बड़ी संजीदगी के साथ रुपये लेकर कूपन देने लगा। तीन दिन तक यही क्रम चला। चौथे दिन वह अपनी कुटिया में बैठकर रुपयों की गिनती करने बैठा। ढेर सारे रुपये देखकर वह प्रसन्नता से झूम उठा। वह रुपये गिन ही रहा था, इतने में एक डाकू उसकी कुटिया में प्रविष्ट हुआ। बंदूक की नोक उसकी कनपटी पर रखते हुए जोर से बोला—ये सारे रुपये मेरे हवाले करो, वरना जान भी गंवाओगे और रुपये भी। एक बार तो संन्यासी दहल उठा। मौत को सामने देखते ही उसके छक्के छूट गए। पर वह भी पक्का खिलाड़ी था। साहस बटोरकर बोला—‘मुझे मारने से तुम्हें हत्या का पाप लगेगा। पकड़े जाओगे तो जेल की हवा खाओगे, अन्यथा नरक में जाना ही पड़ेगा।’ डाकू ने संन्यासी की बात सुनी। वह हंसते हुए बोला—‘मेरी चिंता छोड़ दीजिए महाशय! मैंने आपसे स्वर्ग का कूपन पहले ही खरीद रखा है। आपके मुताबिक मेरी सीट तो स्वर्ग में आरक्षित है ही।’ संन्यासी अब क्या कहता। वह चुपचाप देखता रहा। डाकू उसके रुपये लेकर चला गया।

उपासना व आचरण

इस प्रकार की सौदेबाजी ने धर्म को प्रश्नों के कटघरे में खड़ा कर दिया है। धर्म और स्वर्ग के नाम पर धोखाधड़ी चलाने वालों की कमी नहीं है। जब धर्म का उपासना पक्ष अधिक प्रबल हो जाता है और आचरण पक्ष गौण

रहता है, तब ऐसी स्थिति बनती है। जब तक आचरण में धर्म नहीं उतरता, तब तक यह द्विरूपता चलती रहती है। इस विसंगतिमय जीवन-व्यवहार के प्रति अंगुलि-निर्देश करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने एक गीत में लिखा है—

**अरे धार्मिको! किस प्रवाह में, अब भी बहते जाते हो।
सत्य धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो।।**

प्रवाह में बहना आसान है। भगवान महावीर के अनुसार **अणुसोयपट्टिठए बहुजणम्मि**—अधिकांश लोग अनुस्रोत में प्रवाहित हो रहे हैं तो प्रतिस्रोत में चलने का साहस कौन करेगा? अनुस्रोत में बहना सहज है, सरल है पर जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है, जीवन में कुछ नए कीर्तिमान स्थापित करने की इच्छा रखता है, सुपरमेन बनने की तमन्ना जिसके मन में है, उसके लिए आवश्यक है कि वह प्रतिस्रोतगामी बने। प्रवाह के प्रतिकूल बहना सीखे। धर्म के मूल तत्त्व को पकड़े। क्रोध, मान, माया, लोभ की चौकड़ी को कृश करे। परंपरा से प्राप्त धर्म को जीवन-व्यवहार में लाए। अपना रास्ता प्रशस्त करे। व्रतों का सुरक्षा-कवच पहनकर जीवन समरांगण में उतरे। जहां बुलेट-प्रुफ गाड़ी और जैकेट जीवन को बचाने में अक्षम साबित हो जाते हैं, वहां व्रतों के सहारे व्यक्ति अपने आपको बचा लेता है।

जीवन की सफलता के लिए श्रेयस्कर तत्त्व है संयम। **संयमः खलु जीवनम्**—संयम ही जीवन है, इस सूत्र को आत्मसात करने वाला धर्म को जीवन व्यवहार में उतार सकता है।

3. इस संसार में दुर्लभ क्या है?

जीवन सभी जीते हैं, पर कैसे जीना चाहिए? इस कला से प्रायः लोग अनभिज्ञ रहते हैं। अनभिज्ञता के कई कारण हैं—अज्ञान, प्रमाद, उपेक्षाभाव, लक्ष्यहीनता आदि। निर्लक्ष्य जीवन जीने वाला व्यक्ति कोई नई लकीर नहीं खींच सकता। वह जानता भी नहीं कि जीने का कोई लक्ष्य होना चाहिए। जिन्होंने अपने लक्ष्य को निर्धारित कर लिया है, कम से कम वो तो अपने विवेक को जगाएं। विवेक जगाना बहुत जरूरी है। विवेक को आंख माना गया है। संस्कृत में एक श्लोक मिलता है—

एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकः,
तद्वद्विरेव सह संवसतिर्द्वितीयं।
एतद्द्वयं भुवि चकास्ति न यस्य सोऽन्धः,
तस्यापमार्गगमने खलु कोऽपराधः॥

अर्थात् मनुष्य की एक आंख है उसका सहज विवेक। दूसरी आंख है विवेकशील व्यक्तियों का संपर्क। जिसके पास ये दोनों आंखें नहीं हैं, वह यदि उन्मार्ग की ओर बढ़ता है तो उसमें उसका क्या अपराध है?

चक्षुष्मान व्यक्ति सामान्य मार्ग देख सकता है, पथ पर उसके भटकने की संभावना कम रहती है। अंधा आदमी उसमें भी भटक जाता है, क्योंकि उसे मार्ग दिखाई नहीं देता, वह गलत रास्ते पर चल पड़े, इसमें उसका क्या दोष?

वास्तविकता क्या?

आज मनुष्य के सामने इतने पथ और इतने पथदर्शक हो गए हैं कि वास्तविकता क्या और कहां है? वह इस बात को समझ ही नहीं पाता।

एक बार की बात है गुरु के उपपात में शिष्य-मंडली जमी हुई थी। शिष्यों का जिज्ञासु मन कुछ सुनना चाहता या कुछ जानना चाहता था। चूंकि गुरु अंतर्यामी होते हैं। उन्होंने शिष्यों की भावभंगिमा को पढ़ा और उन्हीं को संबोधित करते हुए पूछा—‘बताओ! इस संसार में दुर्लभ क्या है?’

प्रश्न एक उत्तर अनेक

मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना के अनुसार सबने अपनी-अपनी बात प्रस्तुत की। एक ने कहा—इस संसार में दुर्लभ है चिंतामणि रत्न। चिंतामणिरत्न की विशेषता यह है कि इसका धारक मन में जो भी सोचे उसको वैसी ही प्राप्ति हो जाती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आदमी जैसा सोचता है, चिंतन करता है, वैसा ही दृश्य उसके सामने प्रकट हो जाता है, वह वैसा ही बन जाता है।

दूसरे शिष्य ने कहा—कामकुंभ दुर्लभ है। तीसरा बोला—कामधेनु। चौथे का उत्तर था—देवदर्शन दुर्लभ है। आज का संदर्भ होता तो शायद कहा जाता—पैसा दुर्लभ है। सत्ता दुर्लभ है। प्रायः सबने अपने-अपने चिंतन प्रस्तुत किए, किंतु वे गुरु के द्वारा अभिलषित तत्व को नहीं जान पाए। इसलिए सबके उत्तर अधूरे से रहे। गुरु को संतोष नहीं हुआ, यह जानकर शिष्यों ने करबद्ध होकर विनम्रता और शालीनता से निवेदन किया—‘गुरुदेव आप ही फरमाइए, इस संसार में दुर्लभ क्या है?’

गुरु वाणी मुखरित हुई—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।

माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥

अर्थात् इस संसार में प्राणियों के लिए चार परम अंग दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम। आर्षवाणी में निरूपित ये चार अंग प्रत्येक व्यक्ति के लिए सहज प्राप्य नहीं हैं।

मनुष्य जन्म दुर्लभ कैसे?

आचार्य ने कहा—मनुष्यता दुर्लभ है। प्रश्न उठता है कि मनुष्य जन्म दुर्लभ कहां है? यदि मनुष्य जन्म दुर्लभ होता तो तीव्रगति के साथ आबादी

इस संसार में दुर्लभ क्या है?/17

कैसे बढ़ती? इतनी बढ़ रही है कि उस पर रोक लगाई जा रही है। ऐसी स्थिति में इसे कठिनता से उपलब्ध कैसे माना जाए? पर आर्षवाणी में जो सत्य उद्गीत हुआ है उसे अयथार्थ भी नहीं माना जा सकता। उसमें विरोधाभास नहीं हो सकता। दुर्लभता का हेतु प्रस्तुत करते हुए कहा गया—मनुष्य जन्म की प्राप्ति नौ घाटियों को पार करने के बाद होती है। वे घाटियां हैं—पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और एक तिर्यच पंचेन्द्रिय। इन नौ घाटियों को पार करने के बाद मनुष्य जन्म मिलता है। घाटियां गहन होती हैं। उन्हें सरलता से पार नहीं किया जा सकता।

समय कहां है?

दूसरी बात, मनुष्य जन्म मिलने पर भी धर्मशास्त्रों का श्रवण बहुत कठिन है। मनुष्य इन्द्रिया पेक्षी है। बहिर्मुखता के कारण शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के आकर्षण उसके मन को खींचते रहते हैं। सत्संगति करने या व्याख्यान सुनने के लिए कहा जाए तो उत्तर मिलता है—आज की इस व्यस्त लाइफ-स्टाइल में इतना अवकाश ही कहां रहता है कि व्याख्यान सुनने आए। इसके अतिरिक्त आलस्य, मूढ़ता, अहंकार, प्रमाद, अज्ञान आदि अनेक कारण हैं, जिनकी वजह से व्यक्ति के लिए धर्म-श्रवण अरुचिकर बन जाता है।

पहली ईंट निर्माण की

तीसरी बात, कदाचित् धर्म की बात सुनने का मौका मिल जाए तो उस पर श्रद्धा होना और भी मुश्किल है। आगमों के कुछेक प्रसंग आज कपोल-कल्पित से लगते हैं। पर भला हो विज्ञान का, जिसने अपने शोध, प्रयोग, परीक्षण और परिणामों से धर्मशास्त्रों के तथ्यों को सत्यापित कर दिखाया है। वह उखड़ती आस्था को जमाने में सहायक सिद्ध हुआ है। वस्तुतः श्रद्धा बहुत काम की चीज है। वह जीवन निर्माण के प्रासाद की पहली ईंट है। जन्म-मरण की महामारी की अचूक औषधि है। आस्था से ही चमत्कार घटित हो सकता है। अनेक दुःसाध्य बीमारियों से व्यक्ति एकमात्र श्रद्धा के बल पर मुक्ति पा लेता है। इसलिए श्रद्धा का होना अत्यावश्यक है।

पराक्रम संयम में

चौथी बात, मनुष्य जन्म मिला, धर्मशास्त्रों को सुनने के प्रति रुचि जागी, श्रद्धा का बीज अंकुरित हुआ, इतना होने पर भी संयम में पराक्रम होना कठिन है। जानना व श्रद्धा करना एक बात है पर उसको क्रियान्वित करना दूसरी बात है। संकल्प बल, धृति और संतोष के बिना जीवन में संयम का अवतरण दुष्कर है। आज के सुविधावादी युग में तो संयम शब्द ही कर्णप्रिय नहीं लगता। उपभोक्तावादी संस्कृति के बढ़ते प्रवाह में यह कठिनतम कार्य है। मनुष्य का सारा वीर्य, सारा पराक्रम, सारा पुरुषार्थ बाह्य वस्तुओं की निर्मिति के लिए हो रहा है। सारा प्रवाह एक दिशागामी हो रहा है। यह विमर्शनीय बिंदु है आज का एकांगी विकास मनुष्य के लिए खतरे की घंटी बन रहा है। अपेक्षा यह है कि पुरुषार्थ का दरिया संयम की ओर बहे, शक्तियों के जागरण की ओर बहे, ताकि मनुष्य इन चार दुर्लभ अंगों की प्राप्ति का समुचित लाभ उठा सके।

4. उद्घाटन हो अन्तश्चक्षु का

यह संसार बड़ा विचित्र है। इसमें अनेक विलक्षण बातें होती रहती हैं। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त व्यक्ति की जीवनशैली अपने आप में एक आश्चर्य है। अस्तित्व की दृष्टि से सब प्राणी समान होते हुए भी सबका क्षयोपशम अलग-अलग होता है।

इस सैद्धांतिक पृष्ठभूमि से जब हम व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हैं तो संसार के समस्त प्राणियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—अज्ञानी, अल्पज्ञानी और विशिष्ट ज्ञानी। ज्ञान-चेतना की दृष्टि से तीनों की भूमिकाएं भिन्न-भिन्न हैं।

अज्ञानी कौन ?

सामान्यतः सही और गलत का निर्णय करने की जिनमें क्षमता नहीं होती वे अज्ञानी कहलाते हैं। कुछ अज्ञ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो पूर्वाग्रह से मुक्त होते हैं और अपनी अज्ञता को भी जानते हैं। प्रयत्नपूर्वक उन्हें समझाया जाए तो वे स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाते हैं। आचार्यवर का पदार्पण जब छोटे-छोटे गांव में होता है तब लोग बड़ी उत्सुकता से धार्मिक भावना के साथ प्रवचन सुनने के लिए बड़ी तादाद में एकत्रित हो जाते हैं। आचार्यवर बड़ी आत्मीयता के साथ, बड़े मार्मिक ढंग से उन्हें बुराइयां छोड़ने के लिए प्रेरित करते हैं तो लोग अपने जीवन में व्याप्त बुराइयों को छोड़ने के लिए कृतसंकल्प हो जाते हैं। वे सरल होते हैं और बात को जल्दी समझ लेते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो सदुपदेश सुनते हैं, सत्संग करते हैं। प्रवचन सुनते हैं, लेकिन उनके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आता। समझाने पर भी अपने दुराग्रह के कारण वे सही तत्त्व को आत्मसात नहीं कर पाते। उनके जीवन का प्रवाह अपनी गति से प्रवाहित होता रहता है।

समझदार को इशारा काफी

कुछ व्यक्ति विशिष्ट ज्ञानी होते हैं। 'समझदार को इशारा काफी'—इस कहावत के अनुसार वे हर बात की गहराई में जाते हैं। बुद्धि के कषोपल पर उसे कसते हैं और सही तत्त्व की अवगति प्राप्त कर स्वयं तो स्वीकारते ही हैं, दूसरों की बुद्धि के चौखटे में भी उसे फिर कर देते हैं। उदाहरण के रूप में भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों को प्रस्तुत किया जा सकता है। वे धुरंधर विद्वान थे। उनके पास अपनी शिष्य संपदा थी। उनके अनुयायियों और समर्थकों की संख्या भी अच्छी थी। किंतु उनकी कुछ शंकाएं थीं। भगवान महावीर तो सर्वज्ञ थे। उन्होंने बिना पूछे ही उनकी शंकाओं को समाहित कर दिया। उनके प्रदत्त समाधान ने उनके अंतर्मन में पलने वाले संशयों को दूर कर दिया। उसके बाद वे भगवान महावीर के चरणों में सर्वात्मना समर्पित होकर उनके अंतेवासी शिष्य बन गए।

अल्पज्ञानी को समझाना कठिन

अज्ञानी को समझाना सरल है। विशिष्ट ज्ञानी को भी यौक्तिक ढंग से समझाया जा सकता है किंतु अल्पज्ञानी अथवा पंडितमानी—ज्ञानी नहीं होने पर भी अपने आपको ज्ञानी मानने वालों को समझाना बड़ी टेढ़ी खीर है। भर्तृहरि ने ठीक कहा है—

**अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि, तं नरं न रज्जयति॥**

अज्ञ व्यक्ति को सरलता से समझाया जा सकता है। विशेषज्ञ व्यक्ति को और अधिक सहज ढंग से प्रसन्न किया जा सकता है। परंतु जो थोड़े से ज्ञान के आधार पर स्वयं को बहुत बड़े ज्ञानी मान लेते हैं, इस श्रेणी के मनुष्यों को ब्रह्मा भी संतुष्ट नहीं कर सकते।

ऐसे व्यक्ति अकारण ही अशांति के बीज बोते रहते हैं। केवल अशिक्षित या अनपढ़ लोग ही इस श्रेणी में परिगणित होते हो, ऐसी बात नहीं है। पढ़े-लिखे लोग भी इस कोटि में आ सकते हैं। अहंमन्यता और आग्रही वृत्ति के कारण ऐसे लोगों के लिए ज्ञान-प्राप्ति दुष्कर हो जाती है।

कौन समझाएं?

संसार में चारों ओर भय व्याप्त हो रहा है। हिंसा की लपटें उठ रही हैं। मनुष्य खतरों से घिरा है। अहं और आग्रह के कारण व्यक्ति-व्यक्ति के बीच दीवारें खड़ी हो रही हैं। सामाजिक व्यवस्थाएं छिन्न-भिन्न हो रही हैं। परिवार टूट रहे हैं। रिश्तों का रस सूख रहा है। पति-पत्नी के संबंधों में खटास पैदा हो रही है। एक-दूसरे के प्रति मन में संशय की फांस खटक रही हैं। हत्याओं और आत्महत्याओं की घटनाएं बढ़ रही हैं। किस समय किसके सिर पर आवेश का भूत सवार हो जाए, पता नहीं चलता। ऐसे समय में तीनों ही श्रेणी ही लोगों को प्रतिबोध देना आवश्यक है।

इसीलिए संत-महात्मा बार-बार प्रेरणा देते हुए कहते हैं—‘नर! तू तो अन्तर आंख उघाड़।’ मनुष्य! अपनी अन्तर आंख को खोले। जब तक अंतश्चक्षु बन्द रहेंगे, मनुष्य का विवेक जागृत नहीं होगा। विवेक चेतना की जागृति के अभाव में हित-अहित का बोध नहीं हो सकता। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि मनुष्य विवेक चक्षु का उद्घाटन करे। अपनी शक्ति का सम्यक् नियोजन करे। श्रेयस की दिशा में पुरुषार्थ करे। धर्म-चक्षु से दूसरों को नहीं, बल्कि अंतश्चक्षु से ज्ञान रूपी चक्षु से अपने आपको देखें तो समस्या के समुद्र का पार पाया जा सकता है।

5. सत्य की खोज

सत्य की खोज वही करता है, जो आत्मवान होता है। आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करने वाला सत्य का जिज्ञासु कैसे हो सकता है? जो व्यक्ति अपने जीवन का लक्ष्य तय करके उसको साधने के उपायों को खोजता है, वह एक दृष्टि से सत्य को ही खोजता है।

मनुष्य का सबसे बड़ा लक्ष्य है—बन्धनमुक्ति। बन्धन से जकड़ा हुआ प्राणी जन्म और मृत्यु की परिक्रमा करता रहता है। **सच्चस्स आणाए उवट्टिए से मेहावी मारं तरइ**—जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित होता है, वह मेधावी मृत्यु को तर जाता है। जो परम तत्त्व में लीन होता है, वह कामनाओं से ऊपर उठ जाता है। कामनाओं से ऊपर उठने वाला ही परम तत्त्व में लीन हो सकता है।

सफलता के लिए जरूरी है धैर्य

सत्य की उपलब्धि के लिए व्यक्ति ऊंचे लक्ष्य का निर्धारण करता है। जो ऊंचे लक्ष्य से संपृक्त हो जाता है, उसकी प्रवृत्तियां भी ऊंची होती हैं।

सत्य-संधित्सु के लिए धृति की बहुत बड़ी अपेक्षा है। जो व्यक्ति सत्य-प्राप्ति के लिए निश्चय करके भी उतावला हो जाता है वह सत्य को पा नहीं सकता। इसलिए कहा गया है—**सच्चंसि धिइं कुव्वहं**—अधृति सफलता में बाधक है। जो व्यक्ति सत्य में धैर्य रखता है, सत्य संधित्सा का कोई परिणाम न देखकर भी निराश नहीं होता तथा असत्य से सदा उपरत रहता है, वह कठिन स्थितियों से भी प्रभावित नहीं होता।

अनाग्रह से मिलता है सत्य

सत्य को सम्यक् प्रकार से जानने के लिए दूसरे तत्त्वों को गौण करना होगा, क्योंकि जब तक बाह्य जगत आंखों के सामने रहता है, तब तक

सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। आचारांग में बताया गया है—**पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि** पुरुष! तुम सत्य को ही जानो, समझो। जो सत्य को जान लेता है, वह लोक और अलोक के प्रपञ्च से मुक्त हो जाता है। लोक का अर्थ है—आत्मजगत और अलोक का अर्थ है—बाह्य जगत। प्रकारान्तर से लोक का अर्थ है—दृश्यजगत और अलोक यानी परोक्ष जगत। मनुष्य का वर्तमान जीवन दिखता है, इसलिए वह लोक है और भावी जीवन अलोक है। लोक और अलोक के प्रपञ्च से मुक्त होने वाले के सामने आत्मा और सत्य के अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं रहता। वह सोचता है—**पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि?**—आत्मन्! तुम स्वयं ही अपने मित्र हो फिर बाहर मित्रों की इच्छा क्यों करते हो?

साधक के सामने दो दृष्टियां होती हैं—आत्मसापेक्ष दृष्टि और बाह्य जगत सापेक्ष दृष्टि। आत्मा को केन्द्र में रखकर काम करने वाला व्यक्ति सामान्यतः अकरणीय कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। जिसके सामने आत्मपक्ष गौण है और व्यवहार प्रधान होता है, उसकी कार्य-पद्धति में अन्तर आ जाता है।

आध्यात्मिक और व्यावहारिक प्रवृत्ति की भेदरेखा का आधार उक्त तथ्य से पूर्ण स्पष्ट हो जाता है। सत्य का साधक वह होता है जो पूर्वाग्रह से मुक्त होता है। आग्रही व्यक्ति नए चिन्तन के साथ समझौता नहीं कर सकता। वह अपने पूर्व संस्कारों को छोड़ने का साहस नहीं कर पाता। इसी कारण नए संस्कारों को स्वीकार नहीं कर पाता, किंतु जिसकी चेतना सत्य से प्रतिबद्ध है, जो सत्य को पाने दृढ़संकल्प है, वह किसी भी नए विचार या प्रवृत्ति को औचित्य के आधार पर स्वीकार करता है।

सत्य की समीक्षा

उत्तराध्ययन आगम में कहा गया है—

समिक्ख पंडिंए तम्हा, पास जाईपहे बहू।

अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए॥

पंडित पुरुष प्रचुर पाशों (बन्धनों) और जातिपथों (जन्म-मरण के रास्तों) की समीक्षा कर स्वयं सत्य की गवेषणा करे और सब जीवों के प्रति

मैत्री का आचरण करे। दूसरों के भरोसे जीने वाला व्यक्ति पुरुषार्थ नहीं कर सकता। जैन दर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। भगवान महावीर ने यह नहीं कहा कि मैंने जिस सत्य का निरूपण किया है उसी पर विश्वास करके बैठ जाओ। उन्होंने कहा—हे मतिमान्! तुम स्वयं देखो।

गौतम बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को सम्बोधित कर यही बात इस रूप में कही है—**परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वाचः न तु गौरवात्**—भिक्षुओ! मैंने जो कुछ कहा है उसका परीक्षण, समीक्षण करके उसे स्वीकार करो पर बुद्ध ने कह दिया इसलिए उसके प्रति गौरव प्रकट करते हुए उसे स्वीकार करने की अपेक्षा नहीं है।

वैज्ञानिक व्यक्ति अपने पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों के द्वारा की गई खोज पर ही रुकते नहीं हैं। वे उससे आगे नए तत्व की खोज करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो विज्ञान इतना विकास कर ही नहीं पाता।

अध्यात्म के क्षेत्र में भी साधना की नई-नई प्रक्रिया का अनुसन्धान कर उसका प्रयोग किया जाए तो सत्य के अनुद्घाटित द्वार उद्घाटित हो सकते हैं। संक्षेप में इतना ही स्वीकारना होगा कि वह सत्य-संधित्सु सफल होता है जो सत्य में रत है, धृतिशील है, ऊंचे लक्ष्य में संलग्न है, पूर्वाग्रह से मुक्त है तथा खोज करना जानता है। जहां ये सब नहीं है, वहां सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती।

6. जीवन का उद्देश्य

मानव जीवन संघर्ष का अविराम प्रवाह है। अनादि की गोद से निकला हुआ मानव अनन्त पथ पर दौड़ता चला जा रहा है। उसे कभी राह में निराशा की तलहटी मिलती है, कभी आशा की ऊंची पर्वतमालाएं दिखाई पड़ती हैं। कभी उल्लास का पवन रोम-रोम में तरंगें जगा देता है और कभी वेदना के बादल बरसकर आपादमस्तक मन-प्राण को भिगो देते हैं। सुख-दुःख, आशा-निराशा, उत्थान-पतन के उभयरंगी कूल-कगारों से होती हुई जीवन-सरिता निरंतर प्रवाहित होती रहती है। चिन्तनशील होने के कारण मनुष्य की गति प्रायः किसी लक्ष्य से आबद्ध होती है। जयशंकरप्रसाद के शब्दों में- 'अस्तित्व के चिरन्तन धनु से निकला हुआ तीर न जाने किस लक्ष्य को भेदने के लिए युग-युग से आतुर है।'

वह लक्ष्य किसी 'असीम अगोचर सत्ता' का हो सकता है, 'स्वप्नों के शीश महल' का हो सकता है या किसी 'सामाजिक आदर्श' का हो सकता है। कोई-न-कोई लक्ष्य व्यक्ति की मानसिक चेतना को गतिशील बनाए रखता है। पशु-पक्षी के जीवन का दायरा खाना-पीना, उन्मुक्त विचरण करना और एक दिन काल-कवलित हो जाना यहां तक सीमित है, अतः उनके जीवन का कोई उद्देश्य नहीं है। उनकी जब इच्छा हुई तब वे लक्ष्यहीन दिशा में भी चल पड़े। उनके क्रियाकलाप एवं उनकी किसी गतिशीलता का कोई खास उद्देश्य नहीं है।

मनुष्य के लिए गति के वरदान को स्वीकार कर चलते रहना ही वस्तुतः जीवन है। हम जहां है, वह एक बिंदु है। हमें जहां पहुंचना है, वह दूसरा बिंदु है। प्रथम बिंदु है सीमा और द्वितीय बिंदु है उपलब्धि। इन्हीं दोनों बिंदुओं को मिलानेवाली रेखा को साधना कहते हैं। व्यक्ति का सारा प्रयास और

संपूर्ण संघर्ष इसी साधना में निहित है। दूर से झिलमिलाता हुआ आदर्श अपने इंगित से व्यक्ति को बुलाता रहता है और उसे प्राप्त करने के लिए वह संघर्ष के पथ पर चलता रहता है। सही मायने में जीवन का महत्तम उद्देश्य एक ही है—असत् से सत् की ओर चलने की भावना, अंधकार से आलोक की ओर गतिशील होने की कामना और मृत्यु से अमृतत्व की ओर बढ़ने की लालसा। यही साधना की दिशा है और यही साधना का सत्य है।

विस्तार नय से विचार करें तो सामान्यतः जीवन के चार उद्देश्य माने जा सकते हैं—

1. आध्यात्मिक उद्देश्य
2. वैज्ञानिक उद्देश्य/दार्शनिक उद्देश्य
3. सामाजिक उद्देश्य
4. भौतिक उद्देश्य

1. आध्यात्मिक उद्देश्य

मानव जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य होता है—आनंद की प्राप्ति। आनंद कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिसकी प्राप्ति विलासिता, वासना अथवा भौतिकता के धरातल पर हो। आनंद की प्राप्ति के लिए अध्यात्म की साधना, अपरा विद्या की उपासना और सत्चित् आनंद स्वरूप—आत्मा की शक्ति का बोध होना आवश्यक है। जिस व्यक्ति का यह निश्चय हो कि उसे दुःखों के महासागर को पार करना है, कषायों के पर्वतों को काट-काटकर क्षीण करना है, संवेगों के तीव्र अंधड़ में अप्रभावित रहकर संयमित, नैतिक एवं पावन जीवन जीना है, उस व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक हो जाता है। पर भौतिकता एवं विलासिता के इस युग में इस महत्तम लक्ष्य को पूरा करने के लिए आनंद की खोज करना वस्तुतः एक मरीचिका जैसा है, एक भ्रम है अथवा ऐसा प्रयास है जिसका सुपरिणाम असंभव तो नहीं, परंतु बहुत कठिन है। बहुत कम चेतनाएं इस पथ की ओर अग्रसर होती हैं।

2. वैज्ञानिक या दार्शनिक उद्देश्य

अनंत काल से बौद्धिक मानव का प्रयास सत्य की खोज करना रहा है। इसे अज्ञात में ज्ञात की तलाश भी कह सकते हैं। कुछ मनीषियों ने सत्य की खोज दर्शन के धरातल पर की और वैज्ञानिकों व गणितज्ञों ने सत्य की खोज

विभिन्न प्रकार के प्रयोगों के द्वारा की। सत्य की खोज निरंतर हुई, आज भी जारी है और जब तक धरती पर मानव का जीवन कायम रहेगा, तब तक चलती रहेगी। वातावरण, परिस्थिति आदि कई कारणों से समय बदलता रहता है पर सत्य का संधान हर स्थिति में चलता रहता है। सत्य अत्यन्त सघन होता है। सत्य की एक परत उतरने के बाद दूसरी परत और दूसरी परत के उतरने के बाद तीसरी परत क्रमशः सामने आती जाती है। सत्य का संपूर्ण संधान किसी एक काल विशेष या काल-खंड में कर पाना संभव नहीं है। यह तो युग-युग तक अनवरत चलते रहने वाली प्रक्रिया है। जिस व्यक्ति का लक्ष्य सत्य का अनुसंधान करने का रहता है, उसका जीवन वैज्ञानिक या दार्शनिक उद्देश्य की ओर उन्मुख हो जाता है और वह जागतिक समस्याओं को समाहित करता हुआ नए युग का निर्माण करने के लिए तत्पर हो जाता है। राष्ट्रकवि दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में लिखा है—

**मिट्टी का यह भार संभालो, बन कर्मठ संन्यासी।
पा सकता कुछ नहीं मनुज, बन केवल व्योम-प्रवासी॥**

3. सामाजिक उद्देश्य

आशा के बुझते दीपक को विश्वास का स्नेह चाहिए। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि लोककल्याण के लिए समर्थ व्यक्तियों का महत्वपूर्ण संगठन हो। यदि किसी एक भी रोते हुए व्यक्ति को मुसकान बांटी जा सके तो हृदय-सरोवर में सहस्रों स्वर्ण कमल विकसित हो सकते हैं। हाहाकार एवं सांस्कृतिक पराभव के इस युग में इस मंगल भावना के बीजारोपण की अत्यन्त आवश्यकता है। आज सब ओर से एक ही स्वर सुनाई देता है कि सारा विश्व एक परिवार के समान हो और जगत का हर एक व्यक्ति सबके सुख-दुःख में भागीदार बने।

अपने छोटे-से जीवन में व्यक्ति सद्भावना के बीज बोए, परस्पर भाईचारे के भावजल से उन्हें सींचे, पवित्र चरित्र की छाया तले उन्हें पनपाए तो निश्चित रूप से सामाजिक विकास का यह पौधा एक दिन विशाल वृक्ष का सामर्थ्य पा लेगा तथा थके-हारे पथिकों को विश्राम एवं शीतल सुखद

छाया प्रदान करेगा। जिन व्यक्तियों के जीवन का उद्देश्य दूसरों के लिए कुछ करना होता है, उनका जीवन सामाजिक उद्देश्य के लिए समर्पित हो जाता है। वस्तुतः मनुष्य का जीवन एक इकाई है, इसे समाज की समुन्नति के लिए अर्पित करना महान कार्य है।

4. भौतिक उद्देश्य

अधिकांश लोग आज येन-केन-प्रकारेण अपनी सुख-सुविधाओं की पूर्ति में जुटे हुए हैं। ये जैसे-तैसे अपना जीवन जीते हैं। इनके जीवन में आदर्शों के लिए कहीं कोई स्थान नहीं होता। खाया-पीया और मौज-मस्ती की। इसी से उनके जीवन का लक्ष्य सफल हो जाता है। जीवन-मूल्यों की उन्हें कोई चिंता ही नहीं होती। इस प्रकार का जीवन जगत के लिए भार-स्वरूप हो जाता है। मात्र भौतिक उद्देश्य के लिए जीने वाले व्यक्ति व्यक्ति तथा समष्टि-किसी का भी हित नहीं साध पाते। अतः आवश्यक है कि व्यक्ति महत्तम उद्देश्य से जीवन को अनुप्राणित कर प्रगति-शिखर पर आरोहण करे।

7. गुरु बदल सकते हैं जीवन की दिशा

भारतीय संस्कृति में गुरु-परंपरा से ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति रही है। प्राचीन काल में विद्यार्थी लंबे समय तक गुरुकुल में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। गुरु की महिमा बताते हुए कहा गया है—

**ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥**

अर्थात् गुरु की मूर्ति ध्यान का, गुरु के चरण पूजा का, गुरु का वाक्य मंत्र का और गुरु की कृपा मोक्ष का मूल है।

ध्यान करने के लिए गुरु की मूर्ति या चित्र का आलम्बन मन की स्थिरता में सहायक बनता है। पूजा करनी हो तो गुरु के चरणों की हो सकती है। साधना की दृष्टि से मंत्रों का जप किया जाता है, पर गुरु के मुखारविंद से निकला हुआ वाक्य एक महत्वपूर्ण मंत्र है। धार्मिक व्यक्ति मोक्ष पाने के लिए ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप की आराधना करता है। इस आराधना के साथ गुरु की कृपा उपलब्ध हो जाए तो लक्ष्य की सिद्धि सहजता से हो सकती है।

गुरु ज्ञान देते हैं। ज्ञान प्रकाश का प्रतीक है। जब तक गुरु से ज्ञान नहीं मिलता, व्यक्ति अंधेरे में रहता है।

एक साथ सौ सूर्यों का उदय हो जाए, एक हजार चन्द्रमा अपनी दूधिया चांदनी से धरती के कण-कण में धवलिमा बिखेर दे तो भी गुरु से मिलने वाले ज्ञान का प्रकाश जब तक प्राप्त नहीं होता, तब तक मनुष्य के मन-मंदिर में घोर अंधेरा छाया रहता है।

अर्हत् वाङ्मय में कहा गया—शिष्य महान आत्मा आचार्य के वचन को सफल करे। आचार्य जो कहे, उसे वाणी से ग्रहण करे और कर्म से उसका आचरण करे।

गुरु कौन ?

प्रश्न हो सकता है कि गुरु कौन? वैसे तो जीवन के हर क्षेत्र में पथदर्शन देने वाले गुरु ही कहलाते हैं, जैसे—कलाचार्य, विद्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य, प्राचार्य आदि। ये अपने-अपने क्षेत्र में शिष्यों को प्रबोध देते हैं। ये सब लौकिक आचार्य हैं—अर्निंग और लर्निंग की शिक्षा देने वाले हैं, किंतु जीवन कैसे जीया जाए? इसकी ट्रेनिंग देने वाले नहीं हैं। इसलिए अध्यात्म-परंपरा में गुरु की गुरुता को उजागर करते हुए सिन्दूरप्रकर में बताया गया है—

विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थं,
सुगतिकुमतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति।
अवगमयति कृत्याकृत्यभेदं गुरुर्यो,
भवजलनिधिपोतस्तं बिना नास्ति कश्चित्॥

गुरु वह होता है जो कुबोध का नाश करता है, आगमों का अर्थ-बोध देता है, सुगति और कुगति के मार्ग तथा पुण्य और पाप के भेद को स्पष्ट करता है, जो करणीय और अकरणीय के भेद को समझाता है और संसार-सागर को पार करने के लिए पोत-स्वरूप हैं। ऐसे गुरु के बिना संसार में कुछ भी नहीं है।

ऐसे सुगुरु की उपासना करना, उनके इंगित की आराधना करना बहुत बड़ी बात है। वह उपासना और आराधना व्यक्तित्व-विकास की आधारशिला बनती है। जो गुरु के वचनों के प्रति सर्वात्मना समर्पित होता है, उनके आदेय वचनों की अक्षरशः अनुपालना करता है, उसकी सीधी-सपाट जिंदगी में कभी अवरोध के क्षण आ भी जाएं तो उस संकटकालीन स्थिति से गुरु-वचन उसे उबार लेते हैं।

उलझा मन सुलझा

ऐसा ही एक प्रेरक प्रसंग है आषाढ़ मुनि का। एक बार एक ग्राम में आषाढ़ मुनि भिक्षार्थ एक घर में गए। वहां घर की मालकिन ने बड़े भक्ति-भाव से उन्हें एक केसरिया मोदक बहराया। मुनि मोदक लेकर बाहर आए। मन में सहज ही एक विचार उभरा—मेरे पास भिक्षा में उपलब्ध एक ही मोदक है। अपनी परंपरा के अनुसार मुझे इसे गुरुदेव को निवेदन करना होगा। फलतः मैं तो इसके स्वाद से वंचित ही रह जाऊंगा। ज्योंही यह विकल्प मन में उठा, दूसरा मोदक प्राप्त करने की भावना हो गई। मुनि के पास रूप-परावर्तनी विद्या थी। उसका उन्होंने प्रयोग किया और इस तरह उन्होंने कई मोदक एक ही घर से प्राप्त कर लिए। बड़ी प्रसन्नता के साथ हाथ में झोली लिए वे अपने प्रवास-स्थल की ओर लौटने लगे। रास्ते में दो नट कन्याओं—जय सुंदरी और भुवन सुंदरी ने उनको रोक लिया। वे जैसे-तैसे उस मुनि को अपने घर लाने के लिए संकल्पित थीं, क्योंकि वे मुनि की रूप-परावर्तनी विद्या का करिश्मा देख चुकी थीं। उन्होंने सोचा—यह मुनि यदि हमारी नटमंडली में शामिल हो जाए तो हमारे करतब आश्चर्यकारक हो सकते हैं और धन-वैभव की वर्षा हो सकती है।

इस स्वार्थ भावना से प्रेरित होकर प्रकट रूप में बहुत अनुनय-विनय के साथ उन्होंने मुनि से निवेदन किया—‘मुनिवर! हम पर कृपा करें और अपने चरण-स्पर्श से हमारे आंगन को पवित्र करें।’ अति आग्रह देखकर मुनि उनके घर पधारे। एकांत देखकर पूर्व नियोजित योजना के अनुसार उन्होंने मुनि को वहीं रहने का अनुरोध किया। उनके मधुर संलाप व रूप-जाल में मुनि का मन उलझ गया। एक शर्त के साथ उन्हें स्वीकृति मिली कि एक बार तो मैं अपने गुरु के पास जाऊंगा, किंतु उनकी आज्ञा से लौटकर आ जाऊंगा। इस प्रकार मुनि वचनबद्ध हो गए। मुनि तत्काल गुरुचरणों में पहुंचे। गुरु ने सहजभाव से पूछा—‘आषाढ़! आज तो बहुत देर कर दी। क्या भिक्षा उपलब्ध नहीं हुई?’ यह सुना कि मुनि का आवेश सातवें आसमान तक पहुंच गया। झुंझलाते से वे बोले—‘हां, हां, देर कर दी। आप तो बड़े मजे से

पट्ट पर बैठे रहते हैं। आपको क्या पता कि भिक्षा के लिए कितना श्रम करना पड़ता है? कितना स्वेद बहाना पड़ता है?’

विनीत शिष्य के मुंह से ऐसे शब्द सुनकर पारखी गुरु समझ गए कि आज दाल में कुछ काला है। अपने अंतस की करुणा उंडेलते हुए उन्होंने स्नेहिल शब्दों में पूछा—‘वत्स! आज भिक्षा के लिए कहां गए थे?’ गुरु की अमृतवर्षा ने उनकी आवेशाग्नि को शांत कर दिया। उन्होंने अपनी आपबीती सुना दी और अपना संकल्प भी दुहरा दिया। गुरु ने उन्हें बहुत समझाया और जब लगा कि इन तिलों में अब तेल नहीं है तो उन्होंने कहा—‘शिष्य! मैं तुम्हें जबरदस्ती बांध कर तो नहीं रख सकता क्योंकि प्रलोभन, भय और दबाव में धर्म की साधना नहीं की जा सकती है और न ही करवाई जा सकती है। पर एक बात के लिए तुम्हें अवश्य आगाह करूंगा कि जहां मांस और मदिरा का प्रयोग होता हो, वहां मत रहना।’ शिष्य ने पूरे मन से इस बात को स्वीकार कर लिया।

गुरु से विदा लेकर वह सीधा नट कन्याओं के घर में पहुंचा और उन्हीं में रच-पच गया। आषाढ़ की नृत्यकला को देखकर सब दंग रह जाते। नट की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैलने लगी। थोड़े ही दिनों में उसने काफी धन और यश अर्जित कर लिया। उसकी मांग दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। उस स्थिति में कला-प्रदर्शन करने के लिए उन्हें कभी साथ में और कभी अलग-अलग भी जाना पड़ता।

एक दिन आषाढ़ अकेला कार्यक्रम आयोजित करने गया। दोनों रूपसी कन्याएं घर पर थीं। बहुत दिनों से शराब पीने की मन में ललक थी। पर आषाढ़ कहीं हाथ से निकल न जाए—इस भय से वे अपनी इच्छा का दमन किए हुए थीं। आज मौका पाकर उन्होंने जीभर कर शराब पीली। अधिक शराब पी लेने के बाद व्यक्ति इस तरह बेभान हो जाता है कि उसे स्वयं की भी सुध-बुध नहीं रहती। दोनों बदतर हालत में डूबी पड़ी थीं।

संयोग की बात, उस दिन आषाढ़ कार्यक्रम जल्दी संपन्न कर घर लौट आया। दोनों को बेसुध देखकर उसे गुरु के समक्ष किया अपना संकल्प याद

आया। उसने कहा—‘तुम दोनों ने मेरे समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि हम मांस-मदिरा का सेवन नहीं करेंगी, किंतु आज तुमने उस शपथ का अतिक्रमण किया है। अतः अपने संकल्प का स्मरण करके मैं पुनः अपने गुरु के पास जा रहा हूँ। अलविदा।’

यह बात सुनते ही दोनों के होश गुम हो गए। उन्होंने बड़ी मनुहारें कीं। पर आषाढ़ पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे गुरु के पास पहुंचे। कृत अतिचारों की आलोचना की ओर पुनः संयम में सुस्थिर बन आत्मसाधना करने में संलग्न हो गए।

इस घटना से हर व्यक्ति यह प्रेरणा ले कि गुरु द्वारा जो मार्गदर्शन उसे मिला है, उसके अनुरूप वह अपना जीवन सफल बनाने का प्रयत्न करे, विवेकपूर्ण आस्था के साथ इंगित की आराधना करे और उनके आशीर्वाद से विकास की ऊंचाइयों को प्राप्त करे। यही अभिलषणीय है।

8. सर्वोपरि ध्येय

धर्म के दो रूप हैं—निश्चय और व्यवहार। दूसरे शब्दों में आचरण और उपासना। आचरण का संबंध आत्मा की पवित्रता के साथ है। उपासना की पृष्ठभूमि में काम करने वाले तत्त्व हैं—व्यक्ति की अपनी रुचि, सुविधा और पारंपरिक संस्कार। आचरण की उदात्तता त्रैकालिक सचाई है। उपासना एक सापेक्ष तत्त्व है, जिसमें देश-काल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। आचरण जीवन से जुड़ा हुआ है, इसलिए वह गांव, शहर, अरण्य आदि की सीमा में आबद्ध नहीं है। उपासना के लिए उपयुक्त स्थान, समय आदि की अपेक्षा रहती है।

एक व्यक्ति मंदिर में जाकर पूजा-पाठ करता है। दूसरा मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ता है। कोई सगुण भगवान की पूजा करता है, कोई निर्गुण ईश्वर में विश्वास करता है। कोई गुरुद्वारा में जाकर ग्रन्थसाहब का पाठ करता है, कोई चर्च में प्रार्थना करता है। कोई सूर्य की उपासना करता है। कोई शिवलिंग की पूजा करता है। कोई सत्संग में जाता है। कोई साधु-सन्तों से तत्त्वबोध पाने का प्रयास करता है। ये सब उपासना के प्रकार हैं। इसके और भी अनेक रूप हो सकते हैं। उन सबका समावेश व्यवहार धर्म के उपासनात्मक स्वरूप में हो जाता है।

आचरण की कोई निश्चित विधि नहीं है। वह जीवन-मूल्यों का प्रतीक है। समता, सहनशीलता, सरलता, कोमलता, सत्यनिष्ठा, संयम, संतोष, अनासक्ति, ईमानदारी, करुणा, मैत्री आदि तत्त्वों में धर्म का निश्चयात्मक स्वरूप प्रतिबिम्बित रहता है।

साधना की तलहटी पर खड़ा व्यक्ति निश्चय धर्म की आराधना के सहारे कुछ ही क्षणों में शिखर तक पहुंच जाता है। इस संदर्भ में मरुदेवा

माता एक जीवंत निदर्शन है। उन्होंने न गृहत्याग किया और न सावज्जं जोगं पच्चक्खामि का संकल्प स्वीकार किया। न पदयात्रा की, न तपः साधना से शरीर को तपाया। न ध्यान-स्वाध्याय का आलम्बन लिया, न सेवा का व्रत लिया। शरीर को किसी भी प्रकार का कष्ट दिए बिना हाथी के हौदे पर केवलज्ञान की उपलब्धि निश्चय धर्म की आराधना का फलित है। इस उपलब्धि के तत्काल बाद सिद्धि का वरण कर मरुदेवा माता ने भगवान ऋषभ के समवसरण में उपस्थित जनता को विस्मय के सागर में उतार दिया।

सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति का एक मात्र साधन है निश्चय धर्म, पर उस ऊंचाई तक पहुंचने के लिए बैसाखी के रूप में व्यवहार धर्म का आलम्बन भी स्वीकार्य हो सकता है। प्रस्तुत आलम्बन सुविधाजनक होने के साथ मन की आश्वस्ति का भी निमित्त बनता है, किंतु यहीं पर अटकने वाला व्यक्ति अपनी मंजिल तक नहीं पहुंच सकता। इस दृष्टि से उपासना के साथ आचार धर्म की साधना जीवन का सर्वोपरि ध्येय बने।

एक युवक सन्त के पास गया। उसने धर्म के विषय में जिज्ञासा की। सन्त अपनी साधना में व्यस्त थे। उन्होंने उस युवक को गांव के बाहर तालाब में रहने वाली एक मछली के पास जाने का निर्देश दिया। युवक का मन सन्दिग्ध हो गया। मछली उसकी जिज्ञासा को कैसे समाहित कर पाएगी? इस उलझन में वह खड़ा रहा। संत ने उसको पुनः वहीं जाने का परामर्श दिया। अब युवक के सामने वहां जाने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था।

युवक तालाब के निकट पहुंचा। एक बड़ी-सी मछली ने पानी से बाहर सिर निकाला। युवक ने धर्म की परिभाषा पूछी। मछली बोली—‘मैं तुम्हें धर्म की परिभाषा बताऊंगी। पर अभी मुझे प्यास सता रही है। पहले तुम मुझे एक लोटा पानी पिला दो।’ युवक ने विस्मय-विस्फारित नेत्रों से मछली की ओर देखकर कहा—‘मछली रानी! तुम तो पानी में रहती हो। तुमको पानी पिलाने की बात समझ से परे हैं। युवक की बात सुनकर मछली बोली—‘धर्म तुम्हारे भीतर है। तुम उसकी परिभाषा पूछने के लिए मेरे पास आए हो। यह बात मेरी समझ से परे है।’

उस युवक को धर्म का तत्त्व समझ में आया या नहीं, कहा नहीं जा सकता, पर मछली ने इतना तो स्पष्ट कर ही दिया कि धर्म जीवन का तत्त्व है, भीतर मिलने वाला तत्त्व है। न तो वह वाग्विलास में है और न क्रियाकाण्डों में है। उसे समझने या आत्मसात करने के लिए भीतर झांकना होगा, भीतर जीना होगा। आत्म-परिष्कार की प्रक्रिया से गुजरना होगा।

एक दृष्टि से देखा जाए तो धर्म एक निरपेक्ष सत्य है। यह आकाश की तरह व्यापक है और सूर्य की तरह सर्वप्रकाशी है। कोई भी व्यक्ति किसी भी समय और परिस्थिति में धर्म की साधना कर सकता है। असाम्प्रदायिक या सार्वभौम धर्म की कल्पना इसी धारणा के आधार पर की जा सकती है, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि सम्प्रदाय धर्मारोधना में बाधक है। सम्प्रदाय तो दीपक, लालटेन, मोमबत्ती, बल्ब आदि के समान धर्म का प्रकाश देने वाले माध्यम हैं। माना कि इनके प्रकाश की सीमाएं हैं, क्योंकि ये घेरे में बंधे हुए हैं, पर घेरा क्या व्यर्थ ही होता है? जब सूर्य का प्रकाश नहीं मिलता है, उस समय दीपक आदि माध्यमों को अस्वीकार करने से काम कैसे चलेगा?

छोटे-मोटे विचार भेदों के कारण अस्तित्व में आए सभी सम्प्रदाय अपनी-अपनी सीमाओं में धर्मारोधना में सहायक बनते रहें। यहां तक उनकी सत्ता अस्वीकार करने की अपेक्षा नहीं है, किन्तु सम्प्रदाय पर सम्प्रदायवाद हावी हो जाता है, तब उससे धर्म का प्रकाश मिलने की संभावना क्षीण हो जाती है। इसलिए सम्प्रदाय के संचालकों का दायित्व है कि वे केवल क्रियाकाण्डों में न उलझकर धर्म के जीवन और जागृत रूप से जनता को परिचित कराएं।

9. मूढ़ व्यक्ति धर्म को नहीं जानता

मानव की प्रज्ञा उस रहस्य की खोज में संलग्न है जो उसे अक्षत आनंद का साहचर्य दे सके। उसकी शोध-शृंखला का वर्तमान पड़ाव पदार्थ जगत में हो रहा है। भौतिकवाद की पराकाष्ठा उसके भविष्य की संभावनाएं हैं। वह आस्था और अनास्था के बीच झूलता हुआ अपना प्रत्येक क्षण वस्तुवाद को समर्पित कर रहा है। पदार्थ-संचयन का मनोभाव उसे असीम को उपलब्ध करने की आकांक्षा दे रहा है। युग-युग के संस्कारों से सुदृढ़ कामनाओं की तरुणिमा मनुष्य की धृति, विवेक, संतुलन और संयम को निगल रही है। पदार्थोपलब्धि की कामना ने नव-सृजन की प्रतिभा को दबा दिया है। मनुष्य हर पल टूटता और बिखरता जा रहा है। टूटने के इन क्षणों में उसका आहत दर्प यथार्थ की अनुभूति दे रहा है। उसकी संवेदना में प्रतिबिंबित हो रहा है आंतरिक आनंद की खोज का सपना।

मनुष्य की चेतना मूर्च्छित है। मूर्च्छा का मूल कारण है मोह। मोह की परतें मनुष्य को अतीत से जोड़कर रखती हैं, भविष्य से बांधकर रखती हैं और वर्तमान से विच्छिन्न रखती हैं। जब तक व्यक्ति वर्तमान से प्रतिबद्ध नहीं होता, मोह-भंग नहीं हो सकता। मोह-भंग हुए बिना वह आनंद की गहराइयों में नहीं उतर पाता। आनंद जीवन का लक्ष्य है। उसकी निष्पत्ति कुंठाओं में नहीं, स्वरूप की यथार्थ स्वीकृति में है। भय और आसक्ति की रेखाएं मनुष्य को कुरूपता का वलय दे सकती हैं। वृद्धत्व और मृत्यु की पराधीनता उसके सौंदर्य को अपहृत कर सकती है। केवल स्वायत्तता की छेनी का संस्पर्श ही आनंद की खोज को आगे बढ़ा सकता है, इसलिए मानवीय चेतना को उसकी पराधीनता से मुक्ति देने का अभियान अपेक्षित है।

स्वतंत्रता का बोध

भगवान महावीर ने अपने युग की पराधीन चेतना को स्वतंत्रता का बोध दिया। पराधीनताजन्य मूढ़ता के परिणाम की अवगति देते हुए उन्होंने कहा—**जरामच्चुवसोवणीए नरे सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ**—जन्म और मृत्यु से परतंत्र तथा मोह में सतत मूढ बना हुआ मनुष्य धर्म को नहीं जानता। धर्म मूढ़ता को तोड़ने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से गुजरने वाला व्यक्ति अपने भीतर बहुत कुछ बदला हुआ अनुभव करता है। वह बदला हुआ व्यक्ति ही स्वतंत्रता का सही मूल्य जान सकता है। मूढ़ता का एक बड़ा कारण है दुःख-परंपरा। दुःख के क्षणों में व्यक्ति सही चिंतन नहीं कर सकता। चारों ओर आपदाओं की अनुभूति उसे विक्षिप्त बना देती है। दुःख-परंपरा से घिरी हुई एक व्यामूढ़ हरिणी की पीड़ा कवि की भाषा में इस प्रकार अभिव्यक्त हुई है—

**अग्रे व्याधः करधृतशरः पार्श्वतो जालमालाः,
पृष्ठे वह्निर्दहति नितरां वामतः सारमेयाः।
एणी गर्भादलसगमना बालकैरुद्धपादा,
चिंताविष्टा वदति हरिणं किं करोमि क्व यामि ?**

एक थकी-हारी, चिंताकुल, गर्भ के भार से शिथिल गति वाली, शिशु हरिणों द्वारा बार-बार अवरोध प्राप्त व्यथित हरिणी अपने जीवन-साथी हरिण को संबोधित कर कहती है—‘प्रिय! मेरे आगे हाथ में बाण लिए हुए एक शिकारी खड़ा है। एक कदम भी आगे रखा तो वह मुझे अपने बाण से बीध देगा। मेरे पार्श्वभाग में जाल बिछाए हुए पड़े हैं। थोड़ी सी भी इधर-उधर होती हूं तो जाल में उलझने का भय है। पीछे मुड़कर देखती हूं तो आग की लपटें उठ रही हैं। उसका ताप मुझे हर क्षण संतप्त कर रहा है। मैं अपनी बांयी ओर दृष्टिक्षेप करती हूं तो वहां शिकारी कुत्तों का समूह ललचाई निगाहों से मेरी ओर देख रहा है। अब तुम ही बताओ, मैं क्या करूं और कहां जाऊं?’

मूढ़ता क्यों?

एक हरिणी की यह अंतर-व्यथा समग्र सृष्टि की पीड़ा का प्रतिनिधित्व करती है। सृष्टि का कण-कण पीड़ा के भार से बोझिल है। इस भार को

अभिव्यक्त करने या उतारने की क्षमता मनुष्य में सबसे अधिक है। वस्तुनिष्ठ चेतना को अध्यात्मपरक परिवेश दे सकती है। किंतु जो व्यक्ति जरा और मृत्यु की गिरफ्त को तोड़ते समय फिसल जाता है, वह मूढ़ता से मुक्त नहीं हो सकता। इस मूढ़ता का संबंध मोह कर्म के साथ है, जो दृष्टि और आचरण दोनों को विकृत बनाकर व्यक्ति को मूर्च्छा में ले जाता है।

मदिरा में मादकता होती है पर उसका नशा अस्थायी होता है। जितनी अधिक मात्रा में मदिरा का सेवन होगा, मादकता उतनी ही बढ़ेगी। मादकता से व्यक्ति मूढ़ बनता है, करणीय और अकरणीय का विवेक खो देता है। उसके चिंतन में जड़ता आती है और आत्मभाव की विस्मृति हो जाती है। अस्थायी मादकता का प्रभाव इतना घातक हो सकता है फिर स्थायी उन्माद का तो कहना ही क्या? सतत मूढ़ता इस स्थायी उन्माद की प्रतिक्रिया है। जिस व्यक्ति की मूढ़ता बीच-बीच में टूटती रहती है, वह करणीय के प्रति सजग होता रहता है। गहरे अंधकार में एक क्षण के लिए भी यदि बिजली कौंधती है तो मनुष्य सतर्कता से अपने परिपार्श्व को देख लेता है। एक-एक क्षण का प्रकाश उपयोग में आता है और कार्य की निष्पत्ति हो जाती है। एक क्षण के लिए भी अंधकार का वलय नहीं टूटे तो व्यक्ति निष्क्रिय होकर बैठा रहता है।

प्रज्ञा संपदा है

बाह्य अंधकार और प्रकाश का प्रभाव बहुत सशक्त होता है। अंधकार को प्रकाश में परिणत करने के लिए एक तीव्र प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। ऐसी स्थिति में आंतरिक मूढ़ता और जागरूकता का प्रश्न अपने आप में महत्वपूर्ण है। सतत मूढ़ता में व्यक्ति जागरण का स्वप्न भी नहीं देख पाता। वह अतीत की स्मृतियों में उलझा रहता है। भावी सपनों का संताप उसे आत्मग्लानि का अनुभव देता है। इस स्थिति में वर्तमान का सृजन उससे आंख-मिचौनी करता रहता है। एक पीड़ा का अंत होने से पहले ही वह दूसरी पीड़ा से घिर जाता है। जीवन का बोझ उसके लिए असहज हो जाता है। अत्यंत बेचैनी के वे क्षण उसे पलायन का पथ दिखालाते हैं। पलायन की बात सामने आते ही उसकी शक्ति प्रतिहत हो जाती है और प्रतिभा में

कुंठा आ जाती है। कुंठित प्रतिभा में प्रज्ञा का परिस्फुरण नहीं होता। प्रज्ञा मनुष्य की विशिष्ट संपदा है, पर उसकी स्फुरणा सबको उपलब्ध नहीं होती। प्रज्ञा की स्फुरणा के अभाव में धर्म का संबोध नहीं हो पाता। धर्म आत्मा का स्वभाव है। धर्म जीवन को उसकी ऊंचाइयों तक पहुंचाने का माध्यम है। इस माध्यम को वे व्यक्ति पा सकते हैं जो मोह-भंग के लिए जागरूक हैं। सतत मूढ़ता मोह के आवरणों को अधिक सघन बनाती है। इन आवरणों को तोड़ने वाला उस रहस्य को अनावृत कर देगा, जो जीवन को टूटन और बिखराव से बचा सकता है, अक्षत आनंद का संपादन कर सकता है।

10. क्या धर्म प्रदर्शन में है?

भारतीय संस्कृति अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है। यहां की धरती के अणु-अणु में अध्यात्म के संस्कार हैं। अध्यात्म जीवन के कण-कण में आनंद का संचार करता है। अध्यात्म के रहस्य उसी व्यक्ति को ज्ञात हो सकते हैं जो अपने प्रति पूर्ण जागरूक रहकर जीता है। जो व्यक्ति अपने से दूर भागता है, सुख और आनंद उससे उतने ही आगे खिसक जाते हैं। आनंदित जीवन का रहस्य है स्वयं के प्रति रसमयता, स्वयं के प्रति जागरूकता। अपने प्रति जागरूक रहने वाला संसार से विरक्त हो जाता है। विरक्ति जीवन में नीरसता लाती है, यह कुछ लोगों का अभिमत है। इसमें यथार्थता कितनी है, इसका अनुभव विरक्त व्यक्ति स्वयं कर सकता है वस्तुतः अंतःकरण में जागा हुआ विराग कभी नीरस निष्पत्ति नहीं लाता। विराग के साथ यदि प्रदर्शन की भावना है तो उससे वास्तविक आनंद की प्राप्ति संभव नहीं।

भोजन और भजन

प्राचीन समय की बात है। राजा ने अनेक महात्माओं को भोजन के लिए आमंत्रित किया था। अनेक महात्मा आए। प्रायः सभी महात्मा भोजन और भजन करके चले गए। एक महात्मा कुछ विलम्ब से पहुंचा। राजा पर अपने वैराग्य का प्रभाव डालने के लिए उसने बहुत कम भोजन किया। राजा ने बहुत आग्रह किया कि इतने कम भोजन से क्या होगा? पर वह और कुछ खाने के लिए तैयार नहीं हुआ। भोजन का समय पूरा हुआ, उससे पूर्व ही वह भजन-मंडली में जा बैठा। जप, ध्यान और भजनों का सिलसिला इतना लंबा चला कि सब लोगों पर महात्मा का प्रभाव पड़ा। किसी व्यक्ति ने कहा—‘महात्माजी! आप की साधना बहुत कड़ी है।’ महात्मा गर्व से मस्तक

ऊंचा करके बोले—‘मैं बीस वर्षों से ऐसी कठोर साधना करता हूँ। मुझे लोग महासाधक कहते हैं आदि।’

राजा ने महात्मा का खूब आदर सत्कार किया। सांझ होते-होते वहां से विदा होकर वह अपने भक्त के घर पहुंचा और बोला—‘भाई! बहुत जोर से भूख लगी है, पहले खाना खिलाओ। बात फिर करेंगे।’ भक्त ने कहा—‘आज तो आप महाराज के अतिथि थे। वहां से भूखे कैसे लौट आए?’ उसने कहा—‘एक ही दिन तो राजा ने बुलाया। वहां पेट भर कर भोजन कर लूं तो मेरा महात्मापन क्या रहेगा?’ महात्मा की इस बात पर मुस्कराता हुआ भक्त भोजन ले आया। महात्मा ने खूब छककर भोजन किया। भोजन के बाद थोड़ी देर इधर-उधर की बातें कर वह सोने लगा। भक्त बोला—‘आज भजन नहीं करेंगे क्या?’ महात्मा बोला—‘आज दिन भर भजन में ही तो था। यह अपना घर है, यहां भजन करें या नहीं, क्या अंतर आता है?’

भक्त बड़ा समझदार था। उसने कहा—‘महात्माजी! बुरा मत मानिएगा, एक बात कहूं। आपने आज राजा को दिखाने के लिए, प्रभावित करने के लिए भोजन कम किया और भजन अधिक। यह प्रदर्शन नहीं है क्या? इससे आपको कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है।’ भक्त की बात महात्मा के दिल को छू गई। उसे अपने प्रदर्शन और अहं भावना का बोध हुआ। उसने अनुभव किया कि महात्मा का खिताब धारण करने से कोई महात्मा नहीं होता। महात्मा बनने के लिए आत्मा को महान बनाना होगा। उस दिन के बाद महात्मा का लक्ष्य बदल गया। वह अपने चिंतन और व्यवहार के प्रति जागरूक हो गया।

क्या है दीक्षा ?

सहज विराग ही व्यक्ति को अपने प्रति जागरूक बना सकता है। विरक्ति की भावना को प्रयोगात्मक रूप देने के लिए व्रत स्वीकार करने की परंपरा चली आ रही है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच व्रतों को पूर्ण रूप से स्वीकार करने को जैन परंपरा में दीक्षा-संस्कार कहा जाता है। दीक्षा का संबंध केवल व्रत-ग्रहण तक ही सीमित नहीं है।

इसका तात्पर्य है अस्थि, मांस और मज्जा को व्रतों की भावना से भावित करना, पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का गहरा अभ्यास करना। मात्र दीक्षा-संस्कार को प्राप्त कर कोई साधक अध्यात्म-शिखर पर आरोहण नहीं कर सकता। जीवन की गहराइयों में उतरकर ही अध्यात्म को अनुभूत किया जा सकता है, क्योंकि अध्यात्म का वृक्ष आचरण की उर्वर धरती पर ही फलदायी बनता है, प्रदर्शन के बंजर भूखण्ड पर नहीं।

11. अनासक्ति की चेतना जागे

सुनसान जगह, घना जंगल। समतल भूमि के अंदर एक घड़ा दबाकर रखा गया था। पर घड़े का मुंह भूमि से थोड़ा बाहर था। निर्जन वन में मिट्टी के अंदर घड़े का इस प्रकार अवस्थित होना आश्चर्यजनक था। घड़े के अंदर थोड़े-से भूने हुए चने डाले हुए थे। हवा के मंद-मंद झोंके वातावरण में भूने हुए चनों की खुशबू बिखेर रहे थे।

चने की खुशबू बंदर को बहुत प्रिय होती है। दूर बैठे एक बंदर ने भी चने की खुशबू महसूस की। थोड़ी देर में वह घड़े के पास पहुंचा। उसके मुंह से लार टपकने लगी। आस-पास किसी को न देखकर उसने निश्चिंतता का अनुभव किया। चने निकालने के लिए उसने घड़े के अंदर हाथ डाला। चने तक हाथ पहुंचा, उसने अच्छी तरह से मुट्टी भर ली। घड़े का मुंह इस ढंग से बनाया हुआ था कि खाली हाथ तो घड़े में आसानी से जा सकता था, पर बंद मुट्टी घड़े से बाहर नहीं निकल सकती थी। चने की भरी मुट्टी को घड़े से बाहर निकालने के लिए बंदर ने काफी उछल-कूद की, शरीर का पूरा जोर लगा दिया, परंतु अपने प्रयास में वह सफल नहीं हुआ।

बंदर को पकड़ने वाला एक व्यक्ति निकट ही छिपा हुआ था। वह आराम से बंदर के पास आया और उसे रस्सी से बांध लिया। बंदर मुट्टी खोलकर हाथ बाहर निकाल सकता था, पर चने की आसक्ति ने उसे बंधन में डाल दिया। घटना यह बताती है कि बंधन की ओर जाना व्यक्ति के हाथ की बात है और मुक्ति की ओर प्रस्थान करना भी उसके हाथ में है। हम जिस मनोवृत्ति को लेकर चलते हैं, हमारे लिए आगे का पथ उसी के अनुसार निर्धारित होता जाता है।

दुनिया विषमताओं का एक मीना-बाजार है। कहीं पर्वत की चोटी है तो कहीं गहरी खाई। कहीं बोरे-बोरे नमक है तो किसी के पास रोटी पर लगाने के लिए भी नमक नहीं हैं। कहीं अमीरों की खिड़कियों में मखमली कपड़े झूल रहे हैं तो कहीं गरीब का बेटा चौराहे पर खड़ा होकर कफन मांग रहा है। कहीं जल-ही-जल है तो कहीं अकाल और सूखा है। दुनिया के सारे व्यक्ति अगर समान होते, हर दृष्टि से साम्यवाद ही नजर आता तो शायद यह दुनिया नीरस हो जाती। जीवन में प्रतियोगिता की स्थिति नहीं आती। हम एक-दूसरे के बारे में जानने की और समझने-सोचने की कोशिश नहीं करते। दुनिया में विषमता का होना भी निरर्थक नहीं है। पर आज विषमताओं की जो स्थिति दिखाई दे रही है, उसकी कोई सीमा नहीं है। विषमता ने अपने सारे बंधन तोड़ डाले हैं।

विषम स्थितियों के निर्माण में अर्थशास्त्र और अर्थतन्त्र की भी अहम भूमिका रही है। सुख-सुविधाओं के निर्माण के साधनों के नित-नूतन आविष्कारों को विकास का पैमाना बनाया गया। प्रचार एवं मीडिया के माध्यम से लोगों की इच्छाओं को उभारा गया। आर्थिक और राजनैतिक नीतियां देश के विकास में निमित्त बनी थीं, परंतु उन्होंने चमक-दमक और चकाचौंध का ऐसा चसका जनता को लगा दिया कि सारी सामाजिक स्थितियां ही विषम हो गईं। समाज में बढ़ती हुई विषमता के दुष्परिणाम भी सामने आ रहे हैं। लूट-खसोट, डाके, दिन-दहाड़े हत्याएं, अपहरण, फिरौतियां आदि के लिए कई तत्त्व जिम्मेदार हो सकते हैं, पर एक प्रमुख घटक है—अभाव का जीवन। भूखा व्यक्ति क्या नहीं करता। **बुभुक्षितः किं न करोति पापम्?** सुख-साधनों की तमन्ना है और उसके लिए पर्याप्त सामग्री नहीं है, इसके दुष्परिणाम देश के कोने-कोने में घटित होते रहते हैं। दूसरी ओर अत्यधिक संपन्नता की स्थिति भी स्वस्थ समाज के निर्माण में बाधक है। अर्थ जब स्थान विशेष पर एकत्रित और संकलित होकर सिमटता जाता है तो वह समाज में विलासिता के साथ-साथ अभाव और अर्थ-संकट भी पैदा करता जाता है।

थोड़ी देर के लिए हम अतीत में चलते हैं। भारतीय स्वाधीनता के पूर्व आर्थिक स्थितियां आज जैसी नहीं थीं। उस समय विषमता थी ही नहीं,

यह बात नहीं है। कुछ गिने-चुने लोग थे जो समृद्ध एवं अल्प-समृद्ध की श्रेणी में आते थे। अधिकतर परिवार संयुक्त थे। कहीं-कहीं तो सौ सदस्यों के बीच एक ही चूल्हा था। उस समय आपसी भाईचारा और प्रेम संस्कृति की एक उत्कृष्ट मिसाल थी। समाज में अन्य परिवारों को भी सहर्ष सहयोग दिया जाता था। पूरा गांव एक परिवार की तरह स्नेह-सूत्र में बंधा होता था। दूसरे के लिए वक्त पर काम आने का जज्बा लोगों में था। उस समय लोगों की सोच अत्यन्त उन्नत थी। किसी भी समय सहयोग और सहायता के लिए सैकड़ों हाथ साथ में हुआ करते थे। आजादी के बाद हमने स्वतंत्र हवा में सांस जरूर ली, परंतु विरासत की अनेक सद्वृत्तियां पीछे छूटती चली गईं। हमारी मनोवृत्ति पर आसक्ति और स्वार्थ हावी होते चले गए। हम कुछ अधिक पाने की चाह में काफी कुछ खोते चले गए।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हर समृद्ध व्यक्ति सिर्फ आसक्ति और स्वार्थ में ही बंधकर न रहे, वह सिर घुमाकर अपने से नीचे खड़े व्यक्ति की ओर भी देखे कि उसकी अपेक्षा किस हद तक पूरी की जा सकती है। यदि वह ऐसा करता है तो एक ओर वह समाज की विषमता को कम करने में सहयोगी बनता है और दूसरी तरफ वह मानव होने के नाते अपना सामाजिक धर्म भी पूरा करता है। अपने एवं अपने परिवार के लिए मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षी भी जीते हैं। अपने शावकों और चूजों के लिए तो पशु-पक्षी भी सामग्री जुटाते हैं। वहीं तक यदि मनुष्य का जीवन सिमटकर रह जाए तो मानव-योनि प्राप्त करने का ध्येय सार्थक नहीं होता। मनुष्य अपने लिए जीए, अपने परिवार के लिए जीए। इसी प्रकार समाज के लिए, राष्ट्र के लिए और मानव-जाति के लिए भी जीए। इस प्रकार के जीवन का आनंद कुछ और ही है। ऐसा करके व्यक्ति समाज के ऋण से भी मुक्त होता है और अपना दायित्व भी निभाता है। इच्छाओं के अल्पीकरण तथा संग्रह की सीमा का निर्धारण करके व्यक्ति जहां सामाजिक विषमता को कुछ हद तक दूर कर सकेगा, वहीं आसक्ति तथा स्वार्थचेतना के बंधनों से मुक्त होकर अध्यात्म के उन्मुक्त आकाश में विहरण का भी आनंद प्राप्त कर सकेगा।

12. मंत्र की शक्ति

अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः—मणि, मन्त्र और औषधियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है। दशकुमारचरित का यह सूक्त मणि, मंत्र एवं औषधियों की शक्ति का सूचक है। प्राचीन काल में कुछ व्यक्ति इन शक्तियों के ज्ञाता होते थे और समय-समय पर उनका प्रयोग भी करते थे। उक्त तीनों शक्तियों में मंत्र की शक्ति उत्कृष्ट है और साधना सापेक्ष है। मणि की शक्ति और औषधि की शक्ति पदार्थ से जुड़ी हुई है। अमुक प्रकार की मणि या औषधि की उपलब्धि होने से ही वह शक्ति उपलब्ध होती है। मंत्र का संबंध मन और आत्मा से है। मानसिक एकाग्रता और आत्मा की पवित्रता के साथ ऊर्ध्वमुखी वृत्तियों की ओर ले जाने वाली शब्द-शक्ति का नाम मंत्र है। मंत्र कुछ विशिष्ट स्वर-व्यञ्जनों का समुदाय होता है, जो वातावरण में विद्युत् चुम्बकीय तरंगें पैदा करता है। कुछ मंत्र व्यक्ति के लिए सुरक्षाकवच तैयार करते हैं, कुछ मंत्र कषायों को काटकर पापों को क्षीण करते हैं। कुछ मंत्र अच्छे मनोभावों का सृजन करते हैं तो कुछ मंत्र चित्त-वृत्तियों का शोधन करते हैं। वैसे मंत्र साधना का विशुद्ध उद्देश्य होता है—मन के भीतर छिपी हुई अनंत-अनंत शक्तियों का विकास।

मंत्रविदों के अनुसार मंत्र का देवता प्राण है। इसमें शब्द का महत्त्व है, पर उससे भी अधिक महत्त्व है ध्वनि का। लयात्मक ध्वनि से जो ऊर्जा पैदा होती है, वह शब्दों को दोहराने मात्र से नहीं होती। मंत्र की साधना में उच्चारण-शुद्धि का ध्यान रखना भी बहुत आवश्यक है। अशुद्ध उच्चारण से कभी-कभी बड़ा अनर्थ हो जाता है। इसी दृष्टि से शास्त्रों का पाठ करते समय हीनाक्षर, अत्यक्षर, विपर्यस्ताक्षर, बेमेल पाठ के मेल, पदहीन, घोषहीन तथा विरामहीन आदि दोषों का वर्जन करने का निर्देश दिया गया

है। मंत्रपाठक या मंत्रसाधक मंत्र का उच्चारण करते समय उसकी शुद्धि के प्रति जितना जागरूक होता है, उसे उतनी ही सफलता मिलती है।

विज्ञान में विद्युत-तरंगों की भांति ध्वनि तरंगों का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। ध्वनि प्रवाह से शरीर में स्थित चैतन्य-केन्द्रों में शक्ति का संचार होने लगता है। एक खोज के अनुसार लेफ्ट-राइट की तालबद्ध ध्वनि से उत्पन्न एकीभूत शक्ति से पुल को खतरा हो जाता है। इसीलिए जब सेना पुल पर से गुजरती है, तब उसकी तालबद्ध ध्वनि रोक दी जाती है।

विज्ञान, शास्त्र, परंपरा और व्यवहार—इन चारों बिंदुओं पर परीक्षित एवं अनुभूत शब्द-शक्ति का अलक्षित प्रभाव एक छोटी-सी घटना से समझा जा सकता है। एक युवक संन्यासी के पास अपनी समस्या लेकर गया, संन्यासी ने उसको मंत्र का जप करने का सुझाव दिया। धर्म को ढकोसला मानने वाला वह युवक जप की मानसिकता नहीं बना पाया। उसने संन्यासी के प्रति उपेक्षा प्रकट करते हुए कहा—‘जप से क्या होना-जाना है? दिन भर राम-राम रटने से ही कल्याण हो जाए तो एक तोता भी स्वर्ग में चला जाएगा।’ संन्यासी यह सुन कर मौन हो गया।

कुछ दिनों के बाद उसी युवक से पुनः मुलाकात होने पर संन्यासी ने अपने सुचिंतित शब्द का प्रयोग करते हुए कहा—‘गधे हो, तुम तो बने बनाए गधे हो।’ ये शब्द सुनते ही युवक तिलमिला उठा। उसने पास में रखी छड़ी उठाकर संन्यासी पर वार करना चाहा। संन्यासी ने अपना बचाव करते हुए पूछा—अरे भाई! क्या कर रहे हो? युवक बोला—‘आपने मुझे गधा कैसे कहा?’ संन्यासी का उत्तर था—‘मेरे कहने मात्र से तुम गधे हो सकते हो तो मंत्र का प्रभाव क्यों नहीं हो सकता?’ युवक को बोध मिल गया। वह नियमित रूप से मंत्र का जप करने लगा। इससे उसके जीवन की दिशा बदल गई।

मंत्र की मान्यता प्रायः सभी धर्मों में है। विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न प्रकार के मंत्रों का उल्लेख मिलता है। मंत्र प्रभावी और शक्तिशाली होते हैं, पर जैन धर्म में नमस्कार महामंत्र को सब मंत्रों में विशिष्ट माना गया है। इस मंत्र की विशिष्टता बताते हुए कहा गया है—

**एसो पंचणमुक्कारो, सव्वपावपणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।**

नमस्कार महामंत्र सब पापों का नाश करने वाला है और संसार भर के सब मंगलों में पहला मंगल है। इस मंत्र की शब्द रचना इस प्रकार है—

**णमो अरहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं**

अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि—ये पांच परमेष्ठी हैं। ये क्रमशः ज्ञान, दर्शन, विशुद्धि, आनंद और शक्ति के प्रतीक हैं। महामंत्र का जप करते समय कुछ विशेष रंगों के साथ मन को जोड़ा जाता है तथा शरीर में स्थित चैतन्य केन्द्रों पर मन को एकाग्र किया जाता है। सफेद, लाल, पीला, हरा और नीला रंग क्रमशः एक-एक मंत्रपद से संबंधित हैं। इन रंगों की कमी से अस्वस्थता बढ़ती है, प्रमाद बढ़ता है, बुद्धि मंद होती है, उत्तेजना बढ़ती है और प्रतिरोध की शक्ति क्षीण होती है। रंगों और चैतन्य-केन्द्रों के साथ मंत्र का जाप निश्चित रूप से कारगर सिद्ध होता है।

नमस्कार महामंत्र के जप से अधोमुखी वृत्तियां ऊर्ध्वमुखी बनती हैं। जीवन को सही दिशा मिलती है। सुख-दुःख की कल्पना में बदलाव आता है। पदार्थ के उपभोग से होने वाली तृप्ति की आकांक्षा समाप्त होती है। जीवन का लक्ष्य बदलता है। दृष्टिकोण सही होता है। संकल्प शक्ति का विकास होता है तथा पदार्थ-निरपेक्ष आनंद एवं अन्तः क्षमताओं का समन्वित जागरण होता है।

13. पाप कौन नहीं करता ?

प्रत्येक आस्तिक दर्शन में धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बंध-मोक्ष आदि तत्त्व चर्चा-परिचर्चा के केन्द्रीय स्थल रहे हैं। इन तत्त्वों का आलोड़न-विलोड़न करने पर व्यक्ति के मन में स्वतः जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि—

किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दोग्गइं न गच्छेज्जा

मैं ऐसा कौनसा कर्म-अनुष्ठान करूं जिससे मुझे दुर्गति में न जाना पड़े ? मेरे पापकर्म का बंधन न हो ? आगम साहित्य में असमाहित चित्त को समाधान देने वाले तीन सूत्र प्राप्त होते हैं—

- सम्मतदंसी न करेइ पावं।
- आयंकदंसी न करेइ पावं।
- संतोसिणो णो पकरेंति पावं।

पाप वह नहीं करता जो समत्वदर्शी या सम्यक्त्वदर्शी होता है, आंतकदर्शी होता है और संतोषी होता है।

ग्राफ कहां पहुंचा है ?

पहला सूत्र है समत्व या सम्यक्त्व। जैन दर्शन समता का दर्शन है, मध्यस्थता का दर्शन है। यहां समता शब्द केवल शास्त्रीय शब्दकोश तक सीमित नहीं है, अपितु वह जीवन में तादात्म्य भाव लिए हुए है, आचरण से अनुस्यूत है। समता का विकास पाप से बचने का रास्ता है। समता का साधक लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निंदा-प्रशंसा तथा मान-अपमान में संतुलित रहने का अभ्यास करता है। उसकी साधना का ग्राफ कहां तक पहुंचा है ? इन पंचात्मक द्वंद्वों के माध्यम से वह अपने-आपको

तोलता है। चूंकि वह इस तथ्य से परिचित है कि जहां जीवन है, वहां उतार-चढ़ाव भी है, तलहटी भी है और शिखर भी है। घुमावदार विषम मार्ग भी है और सीधा लंबा-चौड़ा राजपथ भी है। कांटे हैं तो फूल भी हैं। इस अभिज्ञान के कारण ही अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियां आने पर उसके हृदय की धड़कन नहीं बढ़ती, स्वर में परिवर्तन नहीं होता, शरीर में कंपन नहीं होता, नाड़ी की गति में बदलाव नहीं आता तथा वह अपनी चादर को उजली बनाए रखने का सलक्ष्य प्रयास करता है।

दृष्टिकोण कैसा है ?

‘सम्मत्तदंसी’ इस शब्द का दूसरा अर्थ होता है सम्यक्त्वदर्शी। सम्यक्त्वदर्शी वह होता है, जिसका चिंतन विधायक होता है, जो पाप के स्वरूप को जानता है, यथार्थता को पहचानता है, आरोह और अवरोह के मार्ग से अभिज्ञ है। वह सामान्यतः पापकर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। वह इस सचाई से परिचित है कि निषेधात्मक भावधारा कर्मादान की मुख्य हेतु है, विकास-पथ की अवरोधक है तथा शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा एवं आस्तिक्य बीजों को आत्म-भूमि पर अंकुरित न होने देने में प्रमुख भूमिका अदा करती है। यह सम्यक् अवगति उसके दृष्टिकोण को बदल देती है। दृष्टि बदलते ही समूची सृष्टि में रूपांतरण प्रतीत होने लगता है। संपूर्ण पर्यावरण परिवर्तित हो जाता है। करणीय का मानचित्र नए रूप में उभर आता है। केवल आध्यात्मिक क्षेत्र ही नहीं, बल्कि वैयक्तिक क्षेत्र, सामाजिक-आर्थिक मसले, राजनैतिक प्रक्रिया या व्यावसायिक क्रियाकलाप, सभी का विकास या ह्रास दृष्टिकोण की धुरी पर अवलंबित है। इसलिए जो पापकर्म से बचना चाहता है उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने दृष्टिकोण को विधायक, सकारात्मक बनाए रखे।

पापभीरुता का विकास

दूसरा सूत्र है आतंक-दर्शन। जो आतंकदर्शी होता है, वह पापकर्म में लिप्त नहीं होता, पापाचरण में प्रवृत्त नहीं होता। आतंक का अर्थ है भय। भय अच्छा भी है और बुरा भी है। जो अध्यात्म विद्या में पारंगत

बनना चाहता है, अपने-आपको पाने का इच्छुक है, अपनी शक्तियों को उद्घाटित करने का अभिकांक्षी है, वह आत्मगुणों का अभिघात करने वाली मनोवृत्तियों/प्रवृत्तियों से सदा भयभीत रहता है। उनसे अपना बचाव करने में सतत प्रयत्नशील रहता है। वह देखता है कि क्रोध से आंतरिक और बाह्य शक्तियों का हास होता है। अहं से स्वार्थ-चेतना जागती है। माया बहुरूपिया बनाती है और लोभ में सर्वनाश की प्रतिच्छाया का दर्शन होता है। इसीलिए आतंकदर्शी कषायों से उपरत रहना चाहता है। वह अशुभ योग के प्रवाह में नहीं बहता। अठारह पाप स्थानों के चक्रवात में नहीं फंसता। कर्म पुद्गलों का आश्रवण करने वाली प्रवृत्तियों से दोस्ती नहीं करता। अपितु इन्हें भव-भ्रमण का हेतु मानकर इनसे परहेज रखता है। वह पापभीरु बनकर पूर्ण सजगता के साथ मन, वचन, काया की प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है। ऐसा व्यक्ति पाप-पंक से पंकिल नहीं होता।

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी कृति संस्कार-बोध में मुनि की पहचान के बिंदु प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

**पापभीरुता सरलता है, मुनि की पहचान।
जागरूक पग-पग रहें, भूलें कभी न भान।**

संतोष का सूर्य

तीसरा सूत्र है—जो संतोषी होता है, वह कभी उत्पथगामी नहीं होता। उसके कदम श्रेयस की ओर ही अग्रसर होते हैं। प्रसिद्ध कहावत है—संतोषी सदा सुखी। यह अनुभूत तथ्य है कि संतोषरूपी सूर्य के समक्ष लोभ रूपी अंधकार टिक नहीं सकता—**गते शोको न कर्तव्य, भविष्यं नैव चिन्तयेत्**—व्यतीत का शोक न करे और भविष्य की चिंता न करे, जो इस मंत्र को सिरहाने रख कर सोता है, वह व्यक्ति परमसुख में लीन रहता है।

जहां लालसा का आधिपत्य होता है, इच्छाओं को घुड़दौड़ के लिए खुला मैदान मिल जाता है, चाह द्रौपदी का चीर बन जाती है, आकांक्षा की अमरबेल को फैलने का अवलंबन हस्तगत हो जाता है, वहां अमन-चैन की बांसुरी नहीं बज सकती, सुख शांति उपलब्ध नहीं हो सकती। संतोष वह धन

है जिसे पाने के बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। जहां संतोष नहीं होता, वहां यह चाहिए, वह चाहिए, की सूची बहुत लंबी हो जाती है।

सुखी कौन ?

महात्मा बुद्ध के समय की बात है। प्रवचन का समय था, प्रसंग चल पड़ा कि संसार में सुखी कौन ? बुद्ध ने अंतिम पंक्ति में बैठे एक साधारण व्यक्ति की ओर संकेत करते हुए कहा—‘इस प्रवचन-सभा में यह व्यक्ति सर्वाधिक सुखी है।’ सबकी नजरें उस व्यक्ति पर जा टिकी। पर मन पशोपेश में पड़ गया। बुद्ध के वचन को अयथार्थ भी नहीं कहा जा सकता और सामने ऐसा कोई बाह्य चिह्न भी नहीं था जो उसके सुखी होने का दावा कर सके। आखिर जिज्ञासा मुखरित हुई कि इसका प्रमाण क्या है ? वर्तमान परिवेश में सुखी बनने या कहलाने के दो बिंदु हैं—सत्ता और धन। इसके पास ऐसा कुछ भी नहीं लगता फिर आप इसे सुखी कैसे कहते हैं ?

महात्मा बुद्ध की पारदर्शी आंखों ने सबके मनो को पढ़ा। तत्काल एक प्रश्न किया—‘आपके प्रश्न का उत्तर बाद में मिलेगा। पहले यह बताएं कि किसकी क्या अपेक्षा है ?’ अग्रिम पंक्ति में बैठे सेठजी बोले—‘आपकी कृपा से सबकुछ है, पर बेटा नहीं है। बुढ़ापे में लाठी का सहारा चाहिए।’ सफेदपोश व्यक्ति ने कहा—‘केवल सत्ता-सुख मिल जाए, बस इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए।’ चिकित्सक ने हाथ का हुनर चाहिए, यह मांग रखी। अध्यापक ने अनुनय किया—‘आप मुझे ‘गुरुर्ब्रह्म, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः’ की प्रतिष्ठा दिलवा दीजिए।’ बिना पढ़े ही अक्ल दर्जे पर आऊं, ऐसा गुरु-मंत्र सिखला दे—यह एक विद्यार्थी का अनुरोध था। ‘सुंदर औरत के बिना जिंदगी में आनंद कहां ?’ यह कथन था एक युवक का। ‘सब मेरे वश में हो जाए,’ नवयौवना का स्वर गूंजा। वृद्धा बोली—‘धन मिल जाए तो परमात्मा मिल जाए।’ इस तरह एक के बाद एक व्यक्ति क्रमशः उठते गए और अपनी-अपनी अभिलाषाएं व्यक्त करते गए। अब नजरें उस अंतिम पंक्ति वाले व्यक्ति पर थीं। उसने विनम्रतापूर्वक कहा—‘भंते! मुझे कुछ नहीं चाहिए। यदि आप मुझ पर अनुग्रह की वर्षा करना ही चाहते हैं तो ऐसा वरदान दें कि मेरे मन में कोई चाह ही पैदा न हो।’

लोगों की जिज्ञासा को समाहित करते हुए बुद्ध बोले— 'सुखी होने का राज यही है। किसी भी प्रकार की चाह के चक्रव्यूह से बाहर निकल जाना। वरना मनोरथों का चक्का इस कदर घूमता है कि एक साथ अनेक चाहों का दृश्य पदों पर उपस्थित हो जाता है। एक प्रज्ञाचक्षु ने ऐसा ही वरदान मांगा था—मैं अपने प्रपौत्र को सोने की थाली में खीर-खांड का भोजन करते हुए आंखों से देखूं।' एक ही मांग में सारी भौतिक अभिलाषाएं मूर्तिमान बन गईं। मन की मुरादें पूरी हो गईं। जो मन के केनवास पर चाह के रंग-बिरंगे प्रतिबिंबों को उभरने नहीं देता, अति महत्त्वाकांक्षा के पंखों को फैलने नहीं देता, प्रतिस्पर्धा के बाजार में खड़ा नहीं होता, मन की मांग को स्वीकार नहीं करता, वह पापकर्म से अपनी सुरक्षा कर सकता है और वही सुखी बन सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि पाप के लिए उत्तरदायी कौन है? इसका समीचीन उत्तर यही होगा कि सुकृत की तरह दुष्कृत का उत्तरदायी व्यक्ति खुद है। निमित्त कुछ भी हो सकता है, उपादान व्यक्ति स्वयं है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**अप्या खलु सययं रक्खियव्वो**—आत्मा की सतत रक्षा करें। आत्म-सुरक्षा के लिए आवश्यक है, व्यक्ति समत्वदर्शी या सम्यक्त्वदर्शी बने, सर्वत्र आतंक का दर्शन करें तथा संतोष से जीए। यही विकास का पहला पड़ाव है और यही मंजिल है।

14. धर्म : जिज्ञासा और समाधान

हमारे देश में धर्म शब्द बहु प्रचलित है और सबका प्रिय संदर्भ भी है। यहां का हर व्यक्ति किसी न किसी धर्म में विश्वास करता है।

सामान्यतः धर्म के क्षेत्र में मुख्य रूप से चार जिज्ञासाएं उभरती हैं—

1. धर्म क्या है?
2. धर्म कहां किया जाए?
3. धर्म कब किया जाए?
4. धर्म कौन करता है?

इन प्रश्नों के उत्तर हमें दो प्रकार से मिलते हैं। कुछ लोग परंपरावादी होते हैं। वे क्रियाकांडों में विश्वास करते हैं। उनके उत्तर इस संदर्भ में भिन्न प्रकार के होंगे। जिन लोगों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है, जो अनाग्रही दृष्टि से देखते और सोचते हैं, उनका उत्तर भिन्न प्रकार का होगा। हम इन दोनों प्रकार के दृष्टिकोण को सामने रखकर अपनी दिशा का निर्धारण करें।

प्रथम अभिमत

क्रियाकांड में विश्वास करने वाले परम्परावादी लोगों की यह मान्यता है कि पूजा-उपासना ही धर्म है। जो व्यक्ति जितना ज्यादा समय पूजा-उपासना में व्यतीत करता है, वह उतना ही बड़ा धार्मिक होता है।

उनका यह विश्वास होता है कि मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा आदि में धर्म की बेहतर उपासना/आराधना हो सकती है। यहां उपासना करने से अभीष्ट फल की प्राप्ति हो सकती है। इन धर्मस्थलों में की गई पूजा/उपासना से भगवान जल्दी प्रसन्न होते हैं। यहां आने-जाने वाले ही सच्चे धार्मिक होते हैं। अतः धर्म करने का स्थान नियत है।

धर्म कब करना चाहिए? इस प्रश्न का सामान्यतया उनका उत्तर यही होगा कि जब सांसारिक दायित्वों से निवृत्ति का समय आ जाए या रिटायरमेंट का समय आ जाए, उस समय अपने जीवन का ज्यादा से ज्यादा समय धर्म में बिताना और खपाना चाहिए। समय के संदर्भ में उनका उत्तर यह भी हो सकता है कि पंचमी, अष्टमी, एकादशी, पूर्णमासी, त्रयोदशी, चतुर्दशी आदि दिनों में किया गया धर्माचरण ज्यादा फलदायी होता है।

धर्म कौन करता है? इस जिज्ञासा के समाधान में उनका मत है कि अभ्यर्थी और सुखार्थी धर्म करते हैं। अभ्यर्थी वे होते हैं जो धर्म से धन-संपत्त अर्जित कर वैभव संपन्न बनना चाहते हैं। धन को सुख का साधन मानते हैं। धन के द्वारा संसार का समग्र सुख खरीदना चाहते हैं। धर्म की प्रक्रिया से वे अनभिज्ञ व्यक्ति धर्म करने या धार्मिक बनने के लिए धन को माध्यम बनाते हैं।

कुछ लोगों का चिंतन अधिकाधिक सुख-सुविधा प्राप्त करने का होता है। सुख भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का होता है, लेकिन वे अपनी अज्ञानता के कारण भौतिक सुख को ज्यादा वरीयता देते हैं। वे सुख-सुविधा के तमाम भौतिक साधनों को ही परम सुख का आधार मान लेते हैं। ऐसे लोगों का दृष्टिकोण यह होता है कि धर्म करेंगे तो सुख के सारे साधन भगवान मुहैया करा देगा। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है सुखी बनना।

द्वितीय अभिमत

दूसरे दृष्टिकोण से सोचने वाले लोगों का उत्तर सर्वथा भिन्न होता है। उनका चिंतन यह है कि धर्म के संदर्भ में पूजा-उपासना केवल माध्यम है। इन्हें धर्म नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोगों की दृष्टि में 'धर्म क्या है' का उत्तर है—जिन-जिन उपायों से जिस-जिस प्रक्रिया से जीवन पवित्र बनता है, आत्मा विशुद्ध बनती है, वे सारे उपाय धर्म हैं। धर्म की यह परिभाषा सटीक भी है, समझ में आने वाली भी है। ऐसी परिभाषा वाले धर्म के लिए किसी भी स्थान विशेष की आवश्यकता और अनिवार्यता को नहीं मानते हैं।

धर्म कहां हो? इस प्रश्न के उत्तर में वे कहेंगे कि धर्म कहीं भी हो सकता है। धर्मस्थान में हो सकता है, दुकान में हो सकता है, ऑफिस में हो सकता है, बैठकर ही नहीं, रास्ते में चलते हुए भी हो सकता है। धर्म किसी स्थान विशेष में बंधा हुआ नहीं है। उसका एकमात्र संबंध आत्मा की शुद्धि और पवित्रता से है। जिन-जिन कार्यों से आत्मा की शुद्धि हो वे सब धर्म के माध्यम हैं। स्थान की इसमें कोई प्रतिबद्धता नहीं है।

धर्म कब करना चाहिए? इस प्रश्न का सम्यक् उत्तर यही है कि धर्म का अवस्था और समय के साथ कोई अनुबंध नहीं है। जीवन के हर पथ में धर्म की साधना एवं आराधना हो सकती है। जागरूकता और विवेक हो तो जीवन का हर क्षण धर्ममय बनाया जा सकता है।

धर्म कौन करता है? उनकी दृष्टि में इसका प्रत्युत्तर है—आत्मार्थी। आत्मार्थी व्यक्ति आत्महित अथवा आत्मशुद्धि के बारे में सोचते हैं। वे धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास करते हैं और अपने जीवन में धर्म के प्रकाश को पा भी लेते हैं।

वस्तुतः एक धार्मिक व्यक्ति से यही अपेक्षा है कि वह असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर तथा अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाले इस निर्ग्रन्थ धर्म के द्वारा अपनी दृष्टि एवं आचरण को प्रशस्त बनाकर मंजिल को निरंतर नजदीक करता रहे।

15. सूक्ष्म हिंसा की परख

प्राणी, जीव अथवा वनस्पति को मारना, काटना, आहत करना, नष्ट करना, प्रताडित करना हिंसा है। इसे हम स्थूल हिंसा या कायिक हिंसा कहते हैं। हिंसा मन और वचन के स्तर पर भी होती है, यह हिंसा का सूक्ष्म रूप है।

एक कसाई था। वह प्रतिदिन दो-चार भैंसों को काटता था। जिस दिन कसाई का काम नहीं होता था, उस दिन वह राह चलते दो-चार निरीह भैंसों को काटकर दम लेता था। हिंसा उसके मन के भीतर तक पैठ गई थी।

एक दिन कसाई को काम न मिलने के कारण उसने दो-चार निरीह भैंसों को काटा और वह पकड़ा गया। उसे राजा के सामने प्रस्तुत किया गया। उसने राजा से स्पष्ट रूप में कहा कि चाहे जो हो, वह तो दिन में दो-चार भैंसों को गाजर-मूली की तरह काटेगा ही।

राजा ने फैसला किया कि इसे एक महीने तक किसी सूखे कुएं में डाल दो, अन्न-पानी कुछ मत दो। एक महीने तक यह किसी छोटे जीव की भी हत्या न कर सके, इसलिए इसके दोनों हाथ और पैर बांध दो।

कसाई को कुएं में डाल दिया गया। एक महीना बीता। सजा पूरी होने के बाद उसे राजा के सामने पेश किया गया। राजा ने पूछा—‘एक महीने में तुमने हत्या का उपक्रम किया या नहीं?’ कसाई ने कहा—‘मैं प्रतिदिन दो-चार भैंसों की हत्या करता रहा। तभी तो मैं जिंदा हूँ।’ राजा ने पूछा—‘कैसे किया तुमने यह काम? वह बोला—मैं कुएं की गीली मिट्टी दोनों हाथों में लेता था। फिर उसे दोनों हाथों से भैंस के आकार का बनाता था। मिट्टी की भैंस को फिर जमीन पर रखता था और अपने दोनों बंधे हुए हाथ ऊंचे कर पुतले पर वार करता था और ऐसा मैं प्रतिदिन दो-चार बार कर लेता था। मन में बसी हुई हिंसा की भावना को इस प्रकार मैं साकार रूप देता रहा।’

माना कि बंदी बनाया गया कसाई भले ही किसी की काया को आहत नहीं कर सका, परंतु मिट्टी के पुतले पर हाथों से वार करने का जो उपक्रम उसने किया, वह उपक्रम भी हिंसा है। यह हिंसा का मानसिक तथा भावनात्मक स्वरूप है।

वैज्ञानिकों ने सिद्ध भी कर दिया है कि वनस्पति सजीव है, उसमें प्राण तत्त्व है, उसे तोड़ना, काटना, रौंदना, डंडे से पीटना हिंसा है। वनस्पति से सम्बन्धित हिंसा हमारे घरों में प्रतिदिन होती है। यह ऐसी हिंसा है जो सूक्ष्म है, परंतु इससे बचा नहीं जा सकता। यह हिंसा हमारे जीवन की आवश्यक आवश्यकता की निमित्त है। इसमें भी सूक्ष्म हिंसा से संबंधी स्वल्प कर्मबंध होते हैं। कुछ बहनें पाक-कला में अत्यंत निपुण होती हैं। वे तरह-तरह के आकार-प्रकार की सब्जियां काटती हैं। सब्जियों और फलों को तरह-तरह के शेष देकर वे बहुत खुश होती हैं। अड़ोस-पड़ोस में कटे टुकड़े दिखाकर गर्व के साथ कहती हैं—अहा! देखो, मैंने फलों को कितना अच्छा शेष देकर काटा है। काटने की प्रवृत्ति के साथ अपनी भावनात्मक वृत्ति को जोड़ने से कई गुना ज्यादा दोष लगता है। माना कि साग-सब्जी काटे बिना काम नहीं चल सकता, परंतु भावनात्मक वृत्ति को जोड़कर अनावश्यक एवं अतिरिक्त कर्म-बंध से बच सकते हैं।

मनोरंजन की दृष्टि से लोग क्रिकेट या फुटबॉल का मैच देखते हैं। कुछ ऐसे और भी खेल हैं जिनसे उनका मनोरंजन होता है। खासकर युवा पीढ़ी इन खेलों में अधिक रुचि रखती है। ये खेल हैं—बॉक्सिंग, डब्लू. डब्लू. एफ, कुश्ती आदि। इन खेलों को देखने की अवधि में कई बार ऐसे क्षण आते हैं जहां लोग बोल उठते हैं—‘मारो! खून निकाल दो! वाह, क्या पंच मारा है।’ इस प्रकार के खेल मानस को इतना आंदोलित कर देते हैं कि व्यक्ति हिंसात्मक भाषा बोलने के लिए मजबूर हो जाते हैं, यहां पर वे मनोरंजन के नाम पर सूक्ष्म मानसिक हिंसा भी करते हैं। मनोरंजन के और भी बहुत से खेल हैं, क्या हम ऐसे खेलों से अपना मानस नहीं मोड़ सकते, जो मन-मस्तिष्क में सूक्ष्म हिंसात्मक वृत्ति पैदा करते हों?

छोटे-छोटे बच्चे एवं कन्याएं आजकल पांचवी-छठी कक्षा से ही कम्प्यूटर की पढ़ाई शुरू कर देती हैं। ज्ञान-विज्ञान व तकनीक सीखना अच्छी बात है। कम्प्यूटर की पढ़ाई के बाद वे उस पर कोई-न-कोई गेम खेलने लगते हैं। कुछ गेम अजीब तरह के होते हैं। एक गेम ऐसा है जिसमें स्क्रीन पर मच्छर या मक्खियां उड़ रहे होते हैं। आपको उनको मारना है। एक गेम ऐसा है जिसमें पक्षी स्क्रीन पर उड़ रहा है, आपको उसे रिवॉल्वर से सूट करना है। एक गेम ऐसा है जिसमें चूहा स्क्रीन पर जान बचाने के लिए भाग रहा है और आप उसके पीछे बिल्ली को दौड़ा रहे हैं। आपकी जीत तभी होगी जब आप बिल्ली के मुंह में चूहे को पहुंचा देंगे। इस प्रकार के गेम से आपकी मानसिकता भावनात्मक रूप से हिंसा की ओर बढ़ रही है। बच्चे इस प्रकार के गेम से बिल्कुल दूर रहें। कुछ माता-पिता पांच-सात साल के बच्चों को गिफ्ट के रूप में ए.के.सेवन खिलौना लाकर देते हैं। वे भी बच्चों को कहीं-न-कहीं भावनात्मक हिंसा से जोड़ रहे हैं। इस प्रकार की हिंसा से सहजता से बचा जा सकता है। आजकल हर माता-पिता का यह सपना होता है कि उसका बच्चा 'सुपरकिड' बने। उनका बच्चा हर क्षेत्र में अक्ल आए। खेल-कूद, ड्राइंग, डिबेट, ड्रामा, कनवर्सेशन, आई.क्यू., सिंगिंग, डांसिंग, जनरल नॉलेज आदि सभी कॅम्पीटिशन में वह सर्वोच्च रहे। इसके लिए वे रात-दिन प्रयास करते हैं। हर बच्चे की अभिरुचि का एक-दो क्षेत्र होता है जिसमें वह अच्छी योग्यता हासिल कर सकता है। माता-पिता उसकी सीमित अभिरुचि का ख्याल किए बिना हर क्षेत्र में अक्ल आने के लिए झकझोरते रहते हैं। बच्चों को अप्रत्याशित एवं असंभव कार्यों के लिए उसकी रुचि के विरुद्ध बार-बार आंदोलित करना भी हिंसा है। बच्चा मानसिक रूप से आहत एवं त्रस्त होता है। बच्चों की अभिरुचि के अनुसार उन्हें प्रेरित एवं प्रोत्साहित करें।

परिवारों में अक्सर देखा जाता है कि सास बहू को कोसती है तथा बहू सास को बुरा-भला कहती है। कुछ परिवारों में तो सौहार्द एवं रिश्तों की मिठास की बात ही नहीं होती। सभी एक-दूसरे को कोसते, ऊंचा बोलते, गाली-गलौज करते, मुंह फुलाते दिखाई पड़ते हैं। यह भी हिंसा का एक रूप

है, जिसे वाचिक-हिंसा कहते हैं। वाचिक हिंसा का यह दुष्परिणाम होता है कि एक घर में रहकर भी सभी बेगाने और पराए होते हैं और वह परिवार कब, किस घड़ी टूटकर बिखर जाए, कह पाना कठिन है। वचन हिंसा ही धीरे-धीरे फलते-फूलते कायिक हिंसा के रूप में तब्दील हो जाती है।

कमियां किसमें नहीं होती? मनुष्य कमजोरी का पुतला है। यदि हम किसी व्यक्ति की कोई कमजोरी जानते हैं या उसे सार्वजनिक करते हैं तो यह भी एक प्रकार की हिंसा है। इसे छिद्रान्वेषी हिंसा कहते हैं। किसी में कोई कमी नहीं है, फिर भी उस पर झूठा आरोप-प्रत्यारोप लगा देना भी हिंसा है। आम जन-जीवन में अनेक पुरुष एवं महिलाएं ऐसे हैं जो किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर या किसी प्रकार की ईर्ष्या-द्वेष की भावना के वशीभूत होकर इस प्रकार की वाचिक हिंसा कर बैठते हैं। अपने मन एवं वचन पर थोड़ा-सा संयम रखा जाए तो इस प्रकार की हिंसा से बचा जा सकता है।

अहिंसा धर्म के प्रवर्तक भगवान महावीर ने किसी प्राणी को पराधीन बना देना भी हिंसात्मक प्रवृत्ति माना है। इस दृष्टि से पिंजरबद्ध पक्षी को पालना, या सांकल से कुत्ते बांधना भी हिंसा का ही एक रूप है, जिससे बचना चाहिए। मन और वचन पर संयम रखकर मन और वचन से होनेवाली हिंसा से बचना ही अहिंसा धर्म का आचरण है।

16. अमृत-कलश में विष क्यों?

एक चिकित्सालय में लगातार तीन कक्षों पर कुछ सूचनाएं अंकित थीं, कक्ष नं. 1 पर लिखा था—‘किसी आदमी को कुत्ते ने काट लिया है तो चिंता की कोई बात नहीं है। चौदह इन्जेक्शन लो और ठीक हो जाओ।’

कक्ष नं. 2 पर लिखा था—‘किसी आदमी को सांप ने काट लिया है तो स्थिति गंभीर हो सकती है, परन्तु संभव है कि उपचार से वह बच जाए।’

कक्ष नं. 3 पर लिखा था—‘क्रोध एक भयंकर जहर है जिससे आदमी की मौत तक सुनिश्चित हो सकती है।’

क्रोध की चेतना का जब जन्म होता है तो व्यक्ति की विवेक-चेतना धीरे-धीरे मरने लगती है और फिर मनुष्य का नाश अवश्यंभावी है। राष्ट्र कविश्री रामधारीसिंह दिनकर ने ‘रश्मि रथी’ में लिखा है—

**जब आवेश मनुज पर छाता है,
पहले विवेक मर जाता है।**

क्रोध एक मनोविकार है, एक तीव्र मानसिक संवेग है जो मनुष्य की विवेक बुद्धि को नष्ट कर देता है। यह एक मानसिक बीमारी है, जो मनुष्य के समस्त नैतिक गुणों एवं जीवन-मूल्यों को परास्त कर उसे हिंसक वृत्तियों की ओर धकेल देता है। क्रोध व्यक्ति को चेतना शून्य कर देता है, अंधा कर देता है। उसे धर्म से विमुख कर अपराधी बना देता है।

क्रोध के लक्षण

क्रोध का संवेग उत्पन्न होने पर व्यक्ति की आंखें लाल हो जाती हैं, नथुने फड़कने लगते हैं, भृकुटि तन जाती है, दोनों मुट्टियां भिंच जाती हैं, चेहरा भयावह हो जाता है, वाणी में अनर्गल-अर्थहीन शब्दों का प्रवाह

बढ़ जाता है, हृदय की धड़कन तेज हो जाती है, शरीर में कम्पन होने लगता है और वृत्तियां ध्वंसात्मक हो जाती हैं। आचार्यश्री तुलसी द्वारा रचित औपदेशिक गीत में क्रोध के संदर्भ में इन्हीं बिन्दुओं को उल्लेखित किया गया है—

थारी आंख्यां में लोही रो उफाण,
छोड़ो क्यूं कोनी क्रोध रो नशो।
थारी अक-बक बकणै री पड़गी बाण,
दूजां नै कालै नाग ज्यूं डसो॥

क्रोध क्यों ?

क्रोध क्यों पैदा होता है? यह जानना आवश्यक है। मनोविज्ञान में क्रोध के कारणों का उल्लेख किया गया है जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

- क्रोध का पहला महत्वपूर्ण कारण उपेक्षा है। जब किसी व्यक्ति की उपेक्षा होती है या उसकी बात नहीं मानी जाती है तो उसके अभिमान-स्वाभिमान को चोट पहुंचती है और क्रोध का नाग फन उठाकर खड़ा हो जाता है।
- दूसरा कारण है—भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण। एक ही माता-पिता के पुत्र-पुत्री के बीच लालन-पालन में भेदभावपूर्ण नजरिया, एक ही सास के द्वारा दो बहुओं के बीच भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण—ये पारिवारिक धरातल पर अक्सर देखे जाते हैं। समाज में प्रायः व्यक्ति को कहीं न कहीं किसी को भेदभावपूर्ण नीति का सामना करना पड़ता है। इससे भी व्यक्ति के अन्दर क्रोध का संवेग जागृत हो जाता है।
- तीसरा कारण है—किसी बात को अन्यथा लेना। जिन व्यक्तियों के साथ हमारा साहचर्य सकारात्मक है, उसकी हर बात को हम हंसकर झेल लेते हैं। दूध देनेवाली गाय दूध दूहते समय कभी पैर छिटकाकर मार भी देती है तो हम उसे बर्दाश्त कर जाते हैं। जिन

व्यक्तियों के साथ हमारा साहचर्य सकारात्मक या अनुकूल नहीं है तो उसकी सामान्य-सी बात को भी हम अन्यथा में ले लेते हैं और गुस्से के संवेग से घिर जाते हैं।

- चौथा कारण है—बदला लेने की भावना। किसी व्यक्ति के मन में किसी कारण से जब प्रतिशोध की भावना पैदा हो जाती है तो व्यक्ति गुस्से में पागल हो जाता है और बिना प्रतिशोध के उसे चैन नहीं मिलता। विश्व में फैली हुई हिंसा और आतंक की काली छाया के पीछे सबसे बड़ा कारण प्रतिशोध भावना है।
- पांचवां कारण है—सहनशीलता की कमी। सहिष्णुता व्यक्ति को मजबूत बनाती है जबकि सहिष्णुता की कमी व्यक्ति को उग्र एवं क्रोधित बना डालती है।
- छठा कारण है—ईर्ष्या। प्रायः राजनीति के क्षेत्र में हम देखते हैं कि किसी राजनेता ने अच्छी जनसेवा की और अपनी पद-प्रतिष्ठा बढ़ा ली तो प्रतिपक्ष के व्यक्ति उसके शत्रु बन जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को कभी-कभी अपनी जान भी गंवानी पड़ती है। पद-प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा बढ़ जाने पर ईर्ष्यालु एवं विद्वेषी लोग गुस्से में उबल पड़ते हैं और हत्या जैसा जघन्य अपराध भी कर लेते हैं।

क्रिया एक : क्रोध अनेक

‘क्रोध कौन करता है?’ इस प्रश्न को पूछने से ज्यादा अच्छा है यह पूछना कि क्रोध कौन नहीं करता? मालिक कम काम किए जाने पर क्रोध करता है। कर्मचारी समुचित वेतन न मिल पाने के कारण क्रोध करता है, पूंजीपति अपने झूठे अभिमान के लिए क्रोध करता है, गरीब पेट की आग न बुझा पाने के कारण क्रोध करता है, जनता शोषण की चक्की और महंगाई की मार को न झेल पाने के कारण क्रोध करती है, सास आधुनिकता के रंग में रंगी हुई बहू के तेवर देखकर क्रोध करती है, बच्चे मनचाही वस्तु पाने के लिए, बूढ़े अपनी उपेक्षा होते देख क्रोध करते हैं।

जन-जीवन के मानस में रचा-पचा-बसा यह क्रोध मानवता के लिए एक बहुत बड़ी समस्या है, बहुत बड़ी चुनौती है। क्रोध के कारण ही दुनिया के न्यायालयों की चांदी है और कारागृहों में चहल-पहल है। क्रोध के कारण ही सरेआम हिंसा का नग्न नृत्य होता है और दुनिया में आतंक का डंका बजता है। क्रोध मौत को खुला निमंत्रण देता है। प्रकृति ने हमारे जीवन में अमृत भरा है परंतु क्रोध के वशीभूत होकर हम जहर घोलते जा रहे हैं। क्रोध के विष से विषाक्त जीवन न तो व्यक्ति के खुद के लिए हितकारी है, न परिवार के लिए कल्याणकारी है और न समाज के लिए श्रेयस्कर है। हर व्यक्ति अपने क्रोध पर नियंत्रण कर सकता है। क्रोध को काबू में करना कठिन है, किन्तु असंभव नहीं।

महान संत गुर्जिएफ के दादा ने मृत्यु शय्या पर अंतिम सांस लेने से पूर्व उन्हें नसीहत दी और कहा—‘तुम्हारे सामने अनेक स्थितियां, परिस्थितियां आएंगी। जीवन का आदर्श और यथार्थ दोनों आएंगे। कभी ऐसा भी होगा कि तुम्हारे मन में आक्रोश का भाव आ जाए। क्रोध करने का प्रसंग आ जाए तो तत्काल क्रोध मत करना। कम-से-कम चौबीस घंटे प्रतीक्षा करना। जो बात हुई है या जो घटना घटी है, वह भले ही तुम्हारे लिए प्रतिकूल हो परंतु चौबीस घंटे तक कोई प्रतिक्रिया मत करना। चौबीस घंटे में यह सोचना कि ऐसा क्यों हुआ, इसके लिए जिम्मेदार कौन है, किसी ने जान-बुझकर घटना घटित की या लापरवाही, नासमझी या सहजता में घटना घटित हो गई, यह सोचना कि मेरा क्रोध करना उचित होगा या अनुचित, सार्थक होगा या निरर्थक, सकारात्मक होगा या नकारात्मक, रचनात्मक व सुधारवादी होगा या विध्वंसक। पहले हर कोण से समग्र रूप से चिंतन करना। इसके बाद यदि गुस्सा करना आवश्यक हो तो होश-हवाश खोकर क्रोध मत करना, जागरूकता एवं चेतन अवस्था में क्रोध करना। फिर तुम्हारा क्रोध करना भी अच्छा परिणाम लाएगा। जरूरत न समझो तो कभी क्रोध मत करना।

वस्तुतः चौबीस घंटे का समय प्रतीक्षा के लिए पर्याप्त समझा गया परंतु क्रोध का वातावरण निर्मित होने के बाद यदि व्यक्ति चौबीस मिनट भी

सर्वांगीण रूप से चिंतन कर ले तो वह क्रोध के दुष्परिणाम से अवश्य बच सकता है और उत्पन्न संकट की घड़ी को निश्चित रूप से टाल सकता है।

क्रोध के ज्वार को थामने के लिए आवश्यक है कि क्रोधाविष्ट व्यक्ति के सम्मुख तुरन्त कोई प्रतिक्रिया न की जाए अन्यथा शब्दों की आंच उसके आवेश को और अधिक उष्ण बना देती है। संकल्प एवं प्रयोग के द्वारा ही जीवन के अमृत-कलश से क्रोध रूपी विष को दूर किया जा सकता है।

17. जो सहता है : वह रहता है

यह दुनिया बहुरंगी है। इसमें रहने वाले लोगों की जीवनशैली तरह-तरह की है। कुछ व्यक्ति मर्यादा और अनुशासन का कवच पहनकर निश्चिंतता का जीवन जीते हैं। कुछ व्यक्ति स्वच्छन्द मनोवृत्ति वाले होते हैं। वे अपने जीवन में किसी प्रकार का बंधन नहीं चाहते। चाहने या न चाहने से कोई भी व्यक्ति सर्वथा बंधन-मुक्त नहीं हो सकता। इस स्थिति में उसके जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं, जब उसे सहना पड़ता है।

सहनशीलता एक विशिष्ट गुण है। यह एक ताकत है। आंधी-तूफान आते हैं तो वटवृक्ष को झुकझोर कर रख देते हैं, किंतु जमीन में गहराई तक जड़ें होने के कारण उसका अस्तित्व सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार जो बेंत के पौधे झुक जाते हैं, नम जाते हैं। नदी का तीव्र प्रवाह उनका बाल भी बांका नहीं कर सकता, क्योंकि वे उन आघातों को सह लेते हैं। इस दृष्टि से यह स्वीकार करना चाहिए कि जो सहता है, वह रहता है। आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने इसे सफलता का सूत्र माना है।

मनुष्य के जीवन में भी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियां आती रहती हैं। कभी-कभी स्थितियां इतनी जटिल होती हैं कि व्यक्ति भीतर तक हिल जाता है। किंतु उसे यह सोचना चाहिए कि अच्छी स्थितियां स्थायी नहीं रहती हैं तो प्रतिकूल स्थितियों में भी स्थायित्व कैसे होगा? 'यह भी बदल जाएगा'—एक ऐसा सूत्र है जो मनुष्य के मनोबल को कठिन परिस्थितियों में भी मजबूती देता रहता है। किसी कवि की निम्नोक्त चार पंक्तियां भी मनुष्य को धैर्य के साथ रहने की शक्ति प्रदान करती हैं—

**ऊबड़-खाबड़ रस्ते भी समतल हो सकते,
अनसुलझे पहलू जीवन के हल हो सकते।।
सपनों के सच होने की तारीख न होती,
हुए नहीं जो सफल आज तक, कल हो सकते।।**

शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण व्यक्ति बीमार पड़ता है। बीमारी की यातना में उसे कष्ट पहुंचता है। अगर चीर-फाड़ या ऑपरेशन होता है तो भी अपार वेदना होती है। अस्वास्थ्य की स्थिति में यातना सहकर ही हम स्वास्थ्य की दिशा में बढ़ते हैं। यातना और कष्ट से दूर भागकर स्वास्थ्य की कामना नहीं की जा सकती। ठीक उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों में व्यक्ति मानसिक रूप से अस्वस्थ हो जाता है। मन के धरातल पर अनेक प्रकार के आवेग-संवेग चोट करते हैं। मानसिक चोट का सामना व्यक्ति को खुद करना पड़ता है। दुनिया में अब तक ऐसी कोई दवा, इंजेक्शन या टॉनिक नहीं बना जो मानसिक अस्वस्थता को ठीक कर दे। दुनिया में ऐसी कोई सर्जरी आविष्कृत नहीं हुई जो टूटे दिल को या चोट पहुंचे हुए मन को ऑपरेशन करके पहले की स्थिति में ला दे। मानसिक अस्वास्थ्य की बीमारी से निजात पाने का सिर्फ एक ही तरीका है, सिर्फ एक ही तत्व है वह है सहनशीलता। इसीलिए मनीषियों ने कहा है—‘जो सहता है वह रहता है।’

सहनशीलता का विकास साधना सापेक्ष है। शांत चित्त, धैर्य, सकारात्मक सोच एवं ठंडे दिमाग से व्यक्ति सहनशीलता का विकास कर सकता है। सहनशीलता की क्षमता जितनी अधिक बढ़ती है, व्यक्ति में विपरीत परिस्थितियों का मुकाबला करने की शक्ति उतनी ही अधिक बढ़ती है।

गर्मी, सर्दी, वर्षा, उमस आदि प्राकृतिक प्रतिकूलता को सहन करने की क्षमता किसी व्यक्ति में है। कुछ दिनों तक भूखे-प्यासे रहकर उपवास करने की क्षमता भी उसमें है। अचानक कोई चोट लग जाए तो उसे भी सहन करने की क्षमता है, परंतु घर-परिवार व समाज में किसी बड़े-बुजुर्ग ने नसीहत के दो शब्द कह दिए, उसको सहन करने की क्षमता क्यों नहीं है? अन्य स्थानों पर व्यक्ति हंसते-हंसते सहनशीलता का परिचय दे देता

जो सहता है : वह रहता है/69

है, परंतु मन जहां पर आहत हो रहा है, उस समय उसे अप्रभावित रखने के लिए सहनशीलता का परिचय क्यों नहीं दिया जाता ? सही सीख देती है ये पंक्तियां—

उत्साह, उमंग, रवानी का तुम दरिया बनकर बहना सीखो,
छूना है शिखर सफलता का तो इस जग में कुछ सहना सीखो।
चित्र सलोने रचे बहुत पर अपने भीतर रहना सीखो,
मन की कुंठाओं को तजकर उचित समय पर कहना सीखो।

चाहे सौ व्यक्तियों का संयुक्त परिवार हो, चाहे मिया-बीवी दो का घर संसार हो, जीवन के किसी न किसी मोड़ पर सभी को कुछ न कुछ एडजस्ट करना पड़ता है, आपस में समन्वय-संतुलन बनाना होता है। कल्पना कीजिए, सौ व्यक्तियों का संयुक्त परिवार और उसका एक मुखिया।

उसे सौ सदस्यों की सौ तरह की बातें और समस्याएं सुननी होती हैं, समसामयिक समस्याओं पर तुरंत निर्णय करना होता है। वह निर्भर होकर सबकुछ कर लेता है, कारण स्पष्ट है—परिवार के सदस्यों में सहनशीलता एवं समन्वय की भावना है। यह भावना कौन भरता है ? परिवार का मुखिया। वह सौ व्यक्तियों की बातें सुनकर भी सहनशील बना रहता है। सभी में समन्वय और संतुलन कायम करता रहता है। सहनशीलता से जीवन में निखार आता है। एक बच्चा अपने घर से स्कूल जाता है। उसका स्टडी बैग नौकर उठाता है। कार उसे लाती और ले जाती है। घर में वह अपने हाथ से एक ग्लास पानी भी उठाकर नहीं पीता। जीवन-चक्र निर्बाध गति से चलता रहता है, कहीं कोई कठिनाई नहीं होती। जब वह बच्चा युवा होकर ऊंची शिक्षा के लिए शहर में जाता है, हॉस्टल में रहता है, वहां अपने कपड़े खुद धोता है, स्टडी बैग खुद ढोता है, कमरे में झाड़ू खुद लगाता है, खाने की थाली खुद साफ करता है, तभी वह पढ़-लिखकर शिक्षित बनता है। यह सब करने का माद्दा उसमें है, तभी वह सफल होता है। जो अपनी दिनचर्या के कार्यों से घबराकर भाग खड़ा होता है, वह कभी शिक्षा के लक्ष्य को पूरा

नहीं कर सकता है। कठिन समय, कठिन परिस्थितियां, विघ्न-बाधाएं इंसान के वजूद को तोलती हैं। जो सहनशील होता है, कठिनाइयों को चीरना जानता है, वह सफल हो जाता है। जिसने दायित्व का जुआ बीच में ही पटक दिया, समझो कि जग में वह परास्त और असफल हो गया।

विवशता एवं परवशता में सहनशील बने रहना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है स्वेच्छा से, संयम से एवं विवेक से सहनशील बनना। सही मायने में यही सहनशीलता है, इसी की सार्थकता है। यही व्यक्ति का वजूद कायम रखकर मनुष्यता का मान बढ़ाती है।

18. संस्कार निर्माण क्यों ?

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। हर तथ्य को विज्ञान की कसौटी पर कसने और उस पर खरा उतरने के बाद ही उसकी सचाई पर विश्वास किया जाता है। यही कारण है कि शरीर-विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान, समाज-विज्ञान, पर्यावरण विज्ञान, शिक्षा-विज्ञान, मनोविज्ञान, भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, जीवन-विज्ञान आदि विधाओं पर शोध और प्रयोग का व्यवस्थित क्रम चल पड़ा है। इन विषयों के विशेषज्ञ अब तक प्राप्त सूचनाओं के आधार पर काम शुरू करते हैं और अपने अनुभवों से उपलब्ध नए तथ्यों को उनमें जोड़कर उन विधाओं को विकसित करते जा रहे हैं। वे सभी विधाएं अपने-अपने क्षेत्र में महत्वपूर्ण हैं। उनमें भी मनोविज्ञान और जीवन-विज्ञान दो ऐसी विधाएं हैं, जो अपने क्षेत्र में ही नहीं, किसी भी क्षेत्र में काम करने वालों के लिए सहायक बनती हैं। मनोविज्ञान द्वारा मानवीय संवेदनाओं के आधार पर भूल का अहसास कराया जाता है और परिष्कार तथा परिवर्तन का प्रशिक्षण दिया जाता है। आज शिक्षा के साथ उच्छृंखल और अपराधी मनोवृत्ति की जो समस्या है, उसका सटीक समाधान जीवन-विज्ञान का प्रशिक्षण और प्रयोग हो सकता है।

संवेदनशील है मन

मनोविज्ञान का भी इस सन्दर्भ में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें मन के अध्ययन, विश्लेषण और प्रशिक्षण के आधार पर विकास की संभावनाओं पर विचार किया जाता है। वैसे मनोविज्ञान हर मननशील प्राणी के मानसिक प्रतिबिम्बों को पकड़ता है। मानसिक दृष्टि से विकसित हुए प्राणियों का उपचार भी मनोकायिक चिकित्सा-विधि से किया जाता है। फिर भी यह तथ्य निर्विवाद है कि अवस्था के साथ-साथ यह जटिल बनता

जाता है। पशु-पक्षियों की मानसिकता में यह अंतर इतना अधिक स्पष्ट नहीं होता है, किंतु मनुष्य का मन अधिक संवेदनशील और अधिक स्पष्ट होता है इसलिए वह जल्दी पकड़ में आ जाता है। उसके अवचेतन और चेतन मन की धारणाओं में अंतर आने लगता है। इस दृष्टि से मन के आधार पर व्यक्तित्व को मापने का सबसे अधिक उपयुक्त समय है—बचपन। जब तक बालक दुनियावी छल-प्रपंच से दूर रहता है, अपने भीतर और बाहर के जगत में भेदरेखाएं नहीं खींचता, नैसर्गिक स्तर पर जीता है, तब तक अपने आपको सम्यक् रूप में प्रस्तुत कर सकता है।

मनोविज्ञान की एक विशिष्ट और व्यापक शाखा है बाल मनोविज्ञान। शिक्षकों, अभिभावकों और चिकित्सकों के लिए इसे समझना बहुत जरूरी है। क्योंकि बच्चों के जीवन-निर्माण में उनका सशक्त हाथ रहता है। शिक्षक यदि मन के रहस्यों को समझे बिना ही बच्चों को पढ़ाना चाहेंगे तो वे पुस्तकीय ज्ञान तो दे सकेंगे पर उनका मानसिक विकास नहीं कर पाएंगे। अभिभावक यदि मन की गहराइयों में उतरे बिना ही बच्चों का लालन-पालन करेंगे, तो वे उनका शारीरिक विकास करवा देंगे, पर उनका सर्वांगीण विकास नहीं कर सकेंगे। चिकित्सक यदि मन का विश्लेषण किए बिना ही औषधि देते रहेंगे तो वे औषधि-विक्रेताओं को तो सफल कर देंगे, किंतु समाज को एक स्वस्थ और तेजस्वी पीढ़ी नहीं दे सकेंगे।

मनुष्य का मन इतना नाजुक है, जिसे संभाल कर रखना बहुत जरूरी है। मन की नाजुकता का अनुभव उन लोगों को होता है, जो भाव-प्रधान या संवेदनशील होकर जी रहे हैं। उनके अभिमत से मन वो कांच का पात्र है जो उपेक्षा के छोटे से प्रहार से आहत होकर बिखर जाता है। पारिवारिक टूटन का सबसे बड़ा कारण यह मन ही तो है। मन पर जमी हुई संदेह की परतें उसे भीतर-ही-भीतर खोखला करती रहती हैं और व्यक्ति को संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ बना देती हैं।

अपराधी मनोवृत्ति क्यों?

बच्चे की समझ जैसे-जैसे विकसित होती है, उसकी जिज्ञासाएं बढ़ती जाती हैं। वह स्वयं से बड़े लोगों के सामने अपनी जिज्ञासाएं रखता है। अन्य

कामों में व्यस्त होने के कारण प्रायः बड़े लोग उसकी उपेक्षा कर देते हैं। यह उपेक्षा भाव बच्चे के मन में कुंठा उत्पन्न करता है, जो उसके बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक विकास को प्रभावित कर लेती है।

बच्चा अज्ञात को ज्ञात करना चाहता है। किसी भी नए पदार्थ के प्रति उसके मन में आकर्षण रहता है। एक ही प्रकार की वस्तु और वातावरण से वह ऊब जाता है। उसके सामने कोई नई चीज आती है, एक बार वह उसे हाथ में लेकर देखना चाहता है। ऐसी स्थिति में बड़े लोग उसके हाथ से वह वस्तु बलात छीन लेते हैं तो बच्चे के मन में ठेस लगती है, वह रोता है, चिल्लाता है और अपने आपको उपेक्षित तथा असहाय अनुभव करता है। ऐसी परिस्थिति में वह स्नायविक दुर्बलता का शिकार हो जाता है और उसकी सरलता व स्पष्टता पर आवरण आ जाता है। वह छिपकर प्रवृत्ति करने लगता है।

संस्कार मन का

बच्चा झूठ बोलता है, चोरी करता है, झगड़ता है या मारपीट करता है। उसके पीछे कोई-न-कोई वृत्ति काम करती है। कोई भी बच्चा अकारण ऐसी हरकत नहीं कर सकता। वह वातावरण से प्रभावित होकर अच्छा या बुरा बनता है अथवा पिछले जन्म के संस्कार (जीन्स) उसके व्यक्तित्व निर्माण में निमित्त बनते हैं। व्यक्तित्व को परखने के कई पहलू हैं, जैसे—भाषा, संवेग, मानसिक व्याधियां, मानसिक आरोग्य, व्यवहार आदि। बच्चा अपने मन को पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं दे सकता, इसलिए उसके मन का अध्ययन उसकी शारीरिक क्रियाओं के द्वारा भी किया जा सकता है। माध्यम कुछ भी हो, मन को संस्कारित करना आवश्यक है।

कुछ लोगों का अभिमत है कि जन्म के बाद कुछ समय ऐसा होता है जब बच्चा कोई संस्कार ग्रहण नहीं कर सकता। वह समय बालक बाह्य परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में लगाता है। गर्भावस्था में उसकी मनः स्थिति और शारीरिक स्थिति भिन्न प्रकार की होती है। जन्म के बाद उसे पूरा पर्यावरण बदला हुआ मिलता है। जब तक वह उसे अपने अनुकूल नहीं बना लेता, उसका विशेष प्रभाव ग्रहण नहीं करता।

लगभग एक पक्ष के बाद वह कुछ शारीरिक क्रियाओं का अभ्यस्त हो जाता है, फिर भी उसे काफी समय तक पर-निर्भर रहना होता है। इस काल में उसके अवचेतन में विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएं होती रहती हैं किंतु वह उन्हें अभिव्यक्ति देने में अक्षम रहता है। एक समय ऐसा आता है जब बालक में आत्मनिर्भरता का भाव विकसित होने लगता है। कुछ बालक तो असमय में ही वयस्क हो जाते हैं। जितने भी बाल अपराध सामने आते हैं उनका अध्ययन करने वाले मानते हैं कि ऐसे बच्चे स्वयं के बारे में सोचने लगते हैं। इसके कई कारण हो सकते हैं। बालक का सम्पर्क कैसे लोगों से है, वह मोबाइल, टी.वी. नेट आदि पर क्या देखता है, घर, परिवार की परिस्थितियों का उस पर कैसा प्रभाव होता है आदि अनेक बिंदु हैं, जो बालक के संस्कार-निर्माण में पृष्ठभूमि का काम करते हैं। किशोर अवस्था में जैसे संस्कार प्राप्त होते हैं वे जीवन-निर्माण में बुनियाद का काम करते हैं। उन संस्कारों का प्रभाव लम्बे समय तक रहता है। इस अवस्था के बाद मन या संस्कारों का परिवर्तन किसी अप्रत्याशित घटना से जितना जल्दी होता है, प्रशिक्षण देने से नहीं होता। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि संस्कार-निर्माण की पृष्ठभूमि में मन को संस्कारित करने पर ध्यान केन्द्रित किया जाए। संस्कारित मन ही व्यक्तित्व को निखार सकता है और व्यक्ति की समूची जीवन-यात्रा का आधार बन सकता है।

19. लक्ष्य-वेध की प्रक्रिया

इस जगतीतल पर एकमात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसके पास विवेक है, बुद्धि है। वह मंथन करना जानता है। मीमांसा की प्रविधि उसे ज्ञात है। अपने चिंतन, मनन और निदिध्यासन के द्वारा वह करणीय और अकरणीय के बीच भेद रेखा खींचता है। यदि ऐसा न हो तो फिर मानव और पशु के मध्य कोई अंतर ही नहीं रहेगा। यह भी एक सचाई है कि मनुष्य के सिवाय अन्य किसी प्राणी के पास कोई उच्चतम लक्ष्य नहीं होता।

दो रूप

लक्ष्य के दो रूप हैं—1. वस्तुनिष्ठ लक्ष्य—इसमें कुछ करने की अपेक्षा नहीं रहती। यह पारिणामिक भाव है। जैन दर्शन में द्रव्य की पहचान बताते हुए कहा गया है कि द्रव्य वह है जिसमें अर्थक्रियाकारित्व होता है। अर्थक्रिया के बिना वस्तु नहीं रहती। यह उसकी सहज क्रिया है।

2. व्यक्तिनिष्ठ लक्ष्य—यह सोच-समझपूर्वक निर्धारित किया जाता है। यह क्षायोपशमिक भाव है। इसमें पुरुषार्थ का सहारा लेना जरूरी है।

जिनका लक्ष्य भौतिक है, वे धन-दौलत, सत्ता, परिवार तथा बाह्य संसाधनों के अभिमुख होंगे। उनकी चेतना पदार्थ की परिक्रमा करेगी और उसी को प्राप्त करने के लिए वे दिन-रात एक कर देंगे।

निश्चय नय के अनुसार व्यक्ति को कुछ करना नहीं है। जो कुछ भीतर है, उसे पाना है। किंतु व्यवहार नय का अभिमत है कि विकास के लिए हाथ-पैर हिलाने जरूरी हैं। अभीष्ट की ओर प्रस्थान आवश्यक है।

लक्ष्य कैसा हो? इस संदर्भ में चार शब्दों पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। व्यक्ति का लक्ष्य शांतिपूर्ण हो, सार्थक हो, रचनात्मक

हो और प्रगतिशील हो। जिस के जीवन में शांति नहीं, जिसकी कोई सार्थकता नहीं, जहां किसी प्रकार का निर्माण नहीं, उत्पादकता नहीं और विकास की संभावनाएं नहीं, वह जीवन निष्प्राण-सा हो जाता है।

अध्यात्म का विकास चाहने वाले साधक का लक्ष्य होता है—आत्मानुभव, आनंद की उपलब्धि। जैसे हर व्यक्ति आनंद की खोज में संलग्न है, पर उस आनंद की प्राप्ति में तीन बाधाएं हैं—व्याधि—शारीरिक रोग, आधि—मानसिक रोग और उपाधि—भावनात्मक रोग। जब तक ये तीनों तत्त्व व्यक्ति से संपृक्त हैं, आनंद मिल नहीं सकता। आधि, व्याधि और उपाधि—इन तीनों से छुटकारा मिलने पर ही समाधि की स्थिति निर्मित होती है। यही धार्मिकता की फलश्रुति है। साधक साधना से प्रतिबद्ध रहकर मंजिल को निकट कर सकता है।

प्रश्न : अपने से

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का अभिमत है कि व्यक्ति में जितनी अधिक महत्वाकांक्षा होगी, उस ओर उसकी गति भी उतनी ही तीव्र होगी। लक्ष्य के अनुसार कार्य में तीव्रता और मंदता आती है। हम अपने आपसे प्रश्न करें कि—

- क्या हमने लक्ष्य-प्राप्ति का सपना देखा ?
- क्या उस लक्ष्य को पाने के लिए पुरुषार्थ किया ?
- क्या उस लक्ष्य तक पहुंचने की क्षमता है ?
- क्या लक्ष्य-प्राप्ति में अन्य किसी का सहयोग मिलेगा ?

जिज्ञासा के इस आईने में हम अपना प्रतिबिंब देखें। अपने आप का दर्शन करें तो अनेक समस्याएं कपूर की भांति काफूर हो जाएंगी।

लक्ष्य के प्रति गतिशीलता में बाधक तत्वों से बचे। जिंदगी के रास्ते में अनेक अवरोधक हैं। उसमें पहला तत्व है—संदेह। अपने कार्य के मध्य संदेह की नागफनी को उगने के लिए जमीन न दें। 'यह' या 'वह' की दोलायमान भाषा में न सोचें। पक्का विश्वास रखें कि यह होकर रहेगा। आत्मविश्वास

के समक्ष पर्वत भी झुक जाते हैं। इसलिए अपनी संकल्प शक्ति के ग्राफ को नीचे न गिरने दें।

दूसरा तत्त्व है—पूर्णता से पहले विराम। कार्य में निरन्तर गतिशीलता बनी रहनी चाहिए। जो लक्ष्य निर्धारित किया गया है, उस दिशा में सतत प्रयत्न होना चाहिए। अनवरत गिरने वाली एक-एक बूंद से घट भी भर जाता है। प्राकृतिक व्यवधान भी मंजिल-प्राप्ति में बाधा उपस्थित करते हैं। पर प्रबल मनोबल के सहारे ऐसी बाधाओं को पार किया जा सकता है।

भरोसा अपने पर

तीसरा तत्त्व है—परनिर्भरता। परनिर्भरता किसी भी दृष्टि से अच्छी नहीं है। जो व्यक्ति आत्मनिर्भर होता है, अपने आप पर भरोसा करता है, वही अपने कार्य में सफल होता है। वह सबके लिए विश्वासभूमि बन जाता है। दूसरों पर निर्भर रहने वाले पर किसी की प्रतीति नहीं होती। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी उस पर विश्वास नहीं करते।

सारस पक्षी का जोड़ा एक खेत में रहता था। उसके दो नन्हें बच्चे थे। दिन में नर और मादा बच्चों के लिए दाना चुगकर लाने के उद्देश्य से बाहर चले जाते और सांझ होते-होते अपने स्थल पर लौट आते। बच्चों की सार-संभाल करते। उन्हें चुगा लाकर देते। मां-बाप के आने पर बच्चे उन्हें अपनी दिन भर की कहानी सुना देते। सब खुश रहते।

एक शाम बच्चों ने सारस युगल को सूचना दी कि आज खेत का मालिक आया और उसने कहा—‘फसल पक चुकी है। अब गांव वालों के सहयोग से इसे काटना है।’ सारस बोला—‘चिंता की कोई बात नहीं है।’ कुछ दिन बीते। फिर खबर मिली कि उसने अपने पारिवारिक जनों को लाने की बात कही है। सारस ने कहा—‘कुछ होने-जाने वाला नहीं है। सब बेफिक्र रहो।’ समय की शिला आगे खिसकी। एक दिन बच्चों ने कहा—‘खेत का मालिक कल खुद आने वाला है।’ उसने कहा—‘स्वयं के मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता। इसलिए कल मुझे ही पहल करनी होगी।’ यह सुनते ही सारस-युगल चिंतित हो गया। उसने मासूम बच्चों पर स्नेहिल नजर डाली, पर कुछ

बोले नहीं। सारस के बच्चे माता-पिता के चेहरे पर उभरने वाली चिंता की रेखाएं देख रहे थे। अचानक निःश्वास छोड़ते हुए नर सारस बोला—‘अब हमें सूर्योदय से पहले ही इस खेत को छोड़ना होगा।’ मादा सारस ने कहा—‘अब बच्चों का क्या होगा?’ नर सारस ने बच्चों से पूछा—‘बोलो, क्या शरीर में दम है? उड़ने का सामर्थ्य है? यदि है तो फुर से उड़ो। पौ फट रही है।’ बच्चों ने जिज्ञासा की—‘खेत का मालिक पिछले कई दिनों से फसल काटने की बात कर रहा है। इस बात से आप कभी नहीं घबराए। आज इतने चिंतित क्यों हो रहे हैं?’ नर सारस बोला—‘बच्चो! अब तक वह फसल कटवाने के लिए दूसरों पर निर्भर था। आज उसने स्वयं फसल काटने का निर्णय कर लिया। इसलिए फसल का कटना अवश्यंभावी है। अब हमारा यहां रहना खतरे से खाली नहीं है। आत्मविश्वास बढ़ाओ और अपने पंखों की शक्ति पर भरोसा कर उड़ो।’ दृढ़ निश्चय के साथ वे चारों पक्षी उड़कर सुरक्षित स्थान पर पहुंच गए।

चार शब्द

अपनी जिन्दगी में सफल होने के लिए मनुष्य को अवरोधक तत्वों से दूर रहते हुए SWOT (स्वोट) पर ध्यान देना चाहिए। स्वोट में अंग्रेजी वर्णमाला के चार शब्द हैं—

1. S स्ट्रेंथ—अपनी शक्ति को तोलो।
2. W वीकनेस—अपनी कमजोरी को देखो।
3. O ऑपरच्युनिटी—सामने उपस्थित अवसर को पहचानो।
4. T थ्रेट्स—मार्ग में आने वाले खतरों से सावधान रहो।

यदि व्यक्ति इन उपयुक्त बिंदुओं को ध्यान में रखकर काम करे तो लक्ष्य के प्रति उसकी जो निष्ठा और गतिशीलता है, उसमें कहीं कोई रुकावट नहीं आएगी।

20. सुख की तलाश

एक बुढ़िया बहुत परेशान हो रही थी। एक घंटे से वह सड़क के किनारे की रेत उलट-पलट कर देख रही थी, लेकिन अपने मकसद में कामयाब नहीं हुई। पड़ोस का कोई व्यक्ति उधर से गुजरा। बुढ़िया के चेहरे पर परेशानी की रेखाओं और पसीने की बूंदों को देखकर उस व्यक्ति ने पूछा—‘अम्मा! क्या ढूँढ रही हो?’ बुढ़िया ने कहा—बेटा! सूई खो गई, उसे तलाश रही हूँ।’ व्यक्ति ने पुनः पूछा—‘अम्मा! सूई कहां खोई?’ बुढ़िया बोली—‘बेटा! सूई तो घर में खोई थी, परंतु वहां अंधेरा है। सड़क पर उजाला है इसलिए यहां उसे ढूँढ रही हूँ।’ यह तलाश कभी पूरी नहीं हो सकती। क्योंकि जो पदार्थ जहां गुम हुआ, वहां उसको न तलाश कर अन्यत्र ढूँढा जा रहा है।

सुख के स्रोत की तलाश के साथ भी यही हो रहा है। व्यक्ति सुख पाना चाहता है। हर व्यक्ति की इच्छा रहती है कि उसकी जिंदगी में उसे भरपूर आनंद मिले। लेकिन चाहने मात्र से किसी को कुछ नहीं मिलता। भाग्य और पुरुषार्थ का समुचित योग होने से ही व्यक्ति वांछित मंजिल तक पहुंच सकता है। सुख का जहां तक सवाल है, उसका संबंध जीवन-शैली और नजरिये के साथ है। जो व्यक्ति जीवन जीने की कला जानता है, उसके लिए सर्वत्र सुख ही सुख है। जो जीना नहीं जानता उसके चारों ओर दुःख ही दुःख दिखाई देता है।

स्वर्ग बना दूंगा

रहस्यवादी संत मारप्पा अपने भक्तों को उपदेश दे रहे थे। एक भक्त खड़ा होकर बोला—‘महात्मन्! आप ज्ञानी हैं, तपस्वी हैं, ब्रह्मचारी हैं, अहिंसक हैं, अपरिग्रही हैं। आपका जीवन धर्माचरण एवं सत्यनिष्ठा का

एक विरल उदाहरण है। क्या आपको यह यकीन है कि मरने के बाद खुदा आपको स्वर्ग में स्थान देगा? आपको देवत्व का सुख मिलेगा? मारप्पा एक क्षण के लिए विस्मित-से हुए, परंतु उन्होंने काफी सोचपूर्ण दृष्टि से जवाब दिया—खुदा मुझे कहां भेजेगा और क्या करेगा? यह मुझे नहीं मालूम। लेकिन इतना निश्चित है कि वह मुझे जहां भी भेजेगा, मैं वहां जाकर उस स्थान को स्वर्ग बना दूंगा।' कोई भी व्यक्ति कहीं भी रहे, उसने यदि जीने की कला सीख ली तो वह हर परिस्थिति को अपने अनुकूल बना सकता है।

आम लोगों की यह धारणा है कि ईश्वर व्यक्ति का भाग्यविधाता है। वह किसी को कम देता है, केवल दाल-रोटी देता है तो वह जैसे-तैसे जी लेता है और जिसको छप्पर फाड़ कर देता है उसके सुख का कोई पार ही नहीं रहता। परंतु बात ऐसी नहीं है। यह सारा खेल कर्मवाद का है। व्यक्ति के जीवन में जब शुभ कर्मों का उदय होता है तो वह सुख का अनुभव करता है और जब अशुभ कर्मों का उदय होता है तो वह दुःखी हो जाता है। शुभ और अशुभ कर्मों का कर्ता इन्सान स्वयं है। भगवान महावीर ने कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्टिय सुपट्टिओ॥

सुख और दुःख की निर्माता आत्मा है। आत्मा ही मित्र और शत्रु है। अच्छी प्रवृत्ति में संलग्न आत्मा मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में संलग्न आत्मा शत्रु है।

एक सुखद अहसास

व्यक्ति को चाहिए कि यदि वह कुछ अच्छा कर पाने की स्थिति में न हो तो कम से कम किसी का बुरा तो न करे। किसी के लिए अच्छा न सोच सकता हो तो किसी के लिए बुरा तो न सोचे। किसी की प्रशंसा न कर सकता हो तो किसी की निंदा तो न करे। किसी के साथ हाथ न मिला सके तो कम से कम उसके साथ बुरी तरह लड़े तो नहीं। हर स्थिति में मध्यस्थ बना रहे। इससे वह अशुभ कर्मों के बंधन से बच सकता है। दुःखों को आमंत्रित न करना भी एक सुखद अहसास है।

जो व्यक्ति पापाचरण करता है, उसके कर्मों का बंधन होता है और उसे उनका फल भी भोगना पड़ता है। कर्म-फल व्यक्ति इसी जन्म में भुगत सकता है अथवा आगे के जन्मों में कभी भी भोग सकता है। कर्म व्यक्ति का पीछा नहीं छोड़ते। कर्म आत्मा के साथ चिपके रहते हैं। आत्मा किसी भी आकार या स्वरूप में प्रवेश कर जाए, वहां भी उसके कर्मों का लेखा-जोखा साथ चलता है। अतः किसी भी तरह की पापकारी प्रवृत्ति करने से पहले व्यक्ति को भयभीत होना चाहिए। पापकर्म का विचार मन में आने से पहले ही हाथ-पांव कांपने लग जाने चाहिए। ऐसे व्यक्ति ही अपने जीवन में दुष्कृत्य के प्रति सजग रहते हैं और कर्म के बंधन से बच जाते हैं।

नजरिया अपना-अपना

संसार में जितने लोग होते हैं, उतनी ही बातें होती हैं। सबका अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। कभी कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। इससे व्यक्ति को प्रभावित नहीं होना चाहिए, आवेश में नहीं आना चाहिए। लोगों का अपना नजरिया है, अपनी जीवन-शैली है। आप किसको-किसको चुप करेंगे।

शिव और पार्वती कहीं जा रहे थे। साथ में नंदी था। थोड़ी दूर चलने के बाद शिवजी ने पार्वती से कहा—‘सफर लंबा है, तुम थक जाओगी, अतः नंदी पर सवार हो जाओ।’ पार्वती ने शिवजी की बात मान ली और नंदी पर बैठ गई। थोड़ी दूर जाने के बाद एक बस्ती आई। लोगों ने देखा कि औरत नंदी पर सवार है और मर्द पीछे-पीछे पैदल चल रहा है। एक व्यक्ति ने कहा—‘देखो! यह औरत कितनी बेहया है। खुद को सवारी चाहिए। मर्द का भी खयाल नहीं।’ यह बात पार्वती को ठीक नहीं लगी। वह नंदी से उतर गई और शिवजी को नंदी पर बिठा दिया। थोड़ी दूर जाने के बाद दूसरी बस्ती आई। लोगों ने देखा कि आदमी मजे से नंदी पर बैठकर सवारी कर रहा है और पत्नी धूप में पैदल चल रही है। एक व्यक्ति बोला—‘क्या जमाना आ गया है। हट्टा-कट्टा व्यक्ति बैल पर चढ़कर चल रहा है और बेचारी औरत को पैदल चला रहा है।’ यह बात शिवजी को ठीक नहीं लगी। वे नंदी से उतर गए। रास्ता लंबा था। दोनों ने आपस में कुछ बातचीत की और दोनों

ही नंदी पर बैठ गए। थोड़ी दूर जाने के बाद तीसरी बस्ती आ गई। लोगों ने देखा कि नंदी पर एक पुरुष और एक महिला बैठकर सवारी कर रहे हैं। एक व्यक्ति बोला—‘एक निरीह पशु पर मर्द और औरत दोनों लद गए। दया नाम की चीज तो रही ही नहीं। बेचारे मूक पशु को ये लोग जीते-जी मारेंगे।’ यह बात भी शिव और पार्वती दोनों ने सुनी। दोनों नंदी से उतर गए और पैदल चलने लगे। थोड़ी दूर जाने के बाद चौथी बस्ती आई। लोगों ने देखा कि दो व्यक्ति जा रहे हैं। साथ में सवारी के रूप में नंदी है, पर उसका उपयोग नहीं कर रहे हैं। एक व्यक्ति बोला—‘देखो! दोनों कितने मूर्ख हैं? सवारी साथ में है फिर भी सवारी का उपयोग नहीं कर रहे हैं।’ यह बात सुनकर शिव और पार्वती चिंतन में उलझ गए। अब वे क्या करें? सारे विकल्पों का प्रयोग कर लिया गया था। हर ऑप्शन में लोगों की प्रतिक्रियाएं सुनने को मिलती थी। कहा जाता है कि उस समय नंदी बोला कि आप लोगों की प्रतिक्रिया न सुने। आपको जो काम उचित लगे, वही करें।

शिव-पार्वती के साथ ऐसा हुआ या नहीं, कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि यह बात किसी को प्रतिबोध देने के लिए भी कही जा सकती है। इसका सार इतना ही है कि व्यक्ति के सामने प्रतिकूल परिस्थिति आ सकती है, पर वह उसको दुःखी ही बनाए, यह जरूरी नहीं है। दुःख उसे होता है, जो उस परिस्थिति को स्वीकार करता है, उसका संवेदन करता है।

सुख का स्रोत

व्यक्ति किसी के हाथ का खिलौना न बने। क्योंकि अपने भाग्य का निर्माण वह स्वयं ही करता है। किसी से प्रशंसा सुनकर अधिक खुश नहीं होना चाहिए और किसी से निंदा सुनकर आहत भी नहीं होना चाहिए। दोनों स्थितियों में समभाव रहे, संतुलन रहे। यही सुख का स्रोत है।

अपनी तुलना अपने से अधिक समृद्ध या संपन्न व्यक्ति के साथ करने वाला कभी सुखी नहीं हो सकता। किसी के पास दो कमरे का फ्लैट है। वह अपनी तुलना बड़ी इमारत वालों के साथ क्यों करे? उसके पास इतना अधिक है, मेरे पास तो बहुत कम है, ऐसा सोचने वाला व्यक्ति अपने मन में दुःख के बीज ही अंकुरित करता है।

प्रकृति की गोद में व्यक्ति अपूर्व सुख प्राप्त करता है। सुबह की हवा, सूर्योदय की कुनकुनी धूप, खिलते फूल, चहचहाते पक्षी, नदी की कलकल ध्वनि, चांद एवं नीले नभ की शीतलता, ये सभी व्यक्ति के लिए सुखदायी बन सकते हैं। यदि ऐसा न होता तो ऋषि-मुनि जंगलों में रहकर सुख, शांति एवं ज्ञान कैसे प्राप्त करते? सुख व्यक्ति के भीतर ही है। जीने की सम्यक् कला को अपना कर व्यक्ति उस सुख से साक्षात्कार कर सकता है।

21. शांति का आधार

शांति शब्द बहुत प्रिय है। हर विवेकशील व्यक्ति का प्रस्थान शांति की दिशा में होता है। शांति उसकी मंजिल है। व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में काम करे, वह शांति को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकता। आश्चर्य की बात तो यह है कि अशांति के स्पष्ट प्रतीक युद्ध भी शांति के लिए लड़े जाते हैं। जीवन की संपूर्ण भाग-दौड़, आपा-धापी और तनाव का उद्देश्य भी जीवन को शांतिपूर्ण बनाना है।

कोल्हू का बैल दिन-रात चलता है, पर वह अपने स्थान से एक इंच भी आगे नहीं बढ़ पाता। मनुष्य ने अपने जीवन की गाड़ी को खींचने के लिए उसके दोनों ओर बैल जोत दिए हैं। एक बैल उसे अध्यात्म की दिशा में खींच रहा है और दूसरा बैल भौतिकता के दलदल में फंसा रहा है। मनुष्य दोनों ओर से खिंचाव में है। एक दिशा का निर्धारण किए बिना गति नहीं हो सकती।

आवश्यक है मीमांसा

शांति की समझ और उपलब्धि के लिए अशांति के स्वरूप और कारणों की मीमांसा आवश्यक लगती है। अशांति क्या है? शरीर, मन और भावों के असंतुलन से जो अनिश्चय की स्थिति पैदा होती है, वह अशांति है। शांत व्यक्ति निश्चिंत रहता है अथवा यों कहा जा सकता है कि जो निश्चिंत होता है, वह शांत रहता है। आज वैश्विक स्तर पर अशांति के जिन कारणों की मीमांसा हो रही है, उसमें एक बड़ा कारण है हिंसा। मनुष्य हिंसा क्यों करता है? इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो हिंसा के कारणों की एक लंबी श्रृंखला बन जाती है—

- शरीर के स्तर पर हिंसा के कारण—

नाडीतंत्रीय असंतुलन और जैव रासायनिक असंतुलन।

- सूक्ष्म शरीर के स्तर पर हिंसा के कारण—

कर्मविपाक और धुंधला आभामंडल

- भावनात्मक स्तर पर हिंसा के कारण—

अहं भावना, हीन भावना, वैचारिक आग्रह और मिथ्यादृष्टिकोण।

- मानसिक स्तर पर हिंसा के कारण—

मानसिक तनाव, निषेधात्मक दृष्टिकोण और मानसिक चंचलता।

उक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि अशांति का मुख्य कारण हिंसा है। इस अभ्युपगम के आधार पर यह फलित होता है कि शांति का एक मात्र मार्ग है—अहिंसा। अहिंसा को साध्य मानकर उसे साधने का प्रयास करना हो तो उसका साधन है संयम। संयम अहिंसा का साधन ही नहीं, जीवन भी है। **संयमः खलु जीवनम्**—अणुव्रत का यह घोष एक समग्र जीवन-दर्शन की प्रस्तुति है।

आज की मुख्य समस्या है आर्थिक विषमता। इस विषमता के कारण हैं—

- व्यक्तिगत स्वामित्व की असीमता
- व्यक्तिगत भोग की असीमता
- सुविधावादी/भोगवादी मनोवृत्ति की असीमता।

मनुष्य का पदार्थवादी दृष्टिकोण उसे सुविधावादी बनाता है। सुविधावाद बढ़ने से पदार्थ का आकर्षण बढ़ेगा। पदार्थ के आधार पर सुविधा और सुविधा के लिए पदार्थ। ईंधन से आग शांत नहीं होती। भोग से आकांक्षा का शमन नहीं होता। असंयम से मन शांत नहीं होता। इसलिए संयम का मार्ग निरपवाद है। संयम के दो रूप हैं—इच्छा-निरोध और हिंसा-निरोध। इच्छा-परिमाण की बात सुखद भी है और संभव भी है। जिस दिन मनुष्य का जीवन इस संभावना से आलोकित होगा, शांति का सूरज स्वतः उदित हो जाएगा।

अहिंसा परमो धर्मः—यह एक मान्य सिद्धांत रहा है। किंतु कुछ वर्ष पहले आचार्यश्री तुलसी ने इसके समानान्तर नई अवधारणा प्रस्थापित करते हुए कहा कि **अपरिग्रहः परमो धर्मः**। हिंसा परिग्रह का परिणाम है। इसलिए हिंसामुक्त समाज-व्यवस्था के लिए परिग्रह से मुक्त होना जरूरी है। जीवनयापन और परिग्रहमुक्ति में उभरने वाली विसंगति को परिग्रह के अल्पीकरण की प्रक्रिया से समाहित किया जा सकता है।

नियामक तत्त्व

पदार्थ के संग्रह या भोग का जहां तक सवाल है, मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता। व्रत ही संग्रह और भोग का नियामक तत्त्व बन सकता है। एक राजा को अपने प्रजाजनों का परीक्षण करना था। उसके लिए एक बकरी को उपस्थित किया गया। राजा का निर्देश था—जो व्यक्ति इस बकरी को तृप्त कर देगा, उसे हजार स्वर्ण मुद्राएं दी जाएंगी। परीक्षा की अवधि पन्द्रह दिन रखी गई। बकरी को घर ले जाने की छूट थी। जो व्यक्ति उसे घर ले जाता, भरपेट खिलाता। पंद्रह दिन तक उसे मुक्तता से खाने का अवसर मिलता। जब उसको राजा के सामने लाया जाता, राजा हरी घास सामने रखता। वह अपनी आदत के अनुसार हरे घास में मुंह मारती। बकरी ले जाने वाला असफल। इस क्रम से कितने ही व्यक्तियों ने परीक्षा दी, पर उन्हें सफलता नहीं मिली।

एक बुद्धिमान व्यक्ति बकरी को ले गया। प्रारंभ में वह पीछे रहकर बकरी को पेट भरने देता। फिर सामने आकर घास डालता। वह खाने लगती तो छड़ी से पीटता। दो-चार दिन बाद वह छड़ी को देखते ही खाने की बात भूल जाती, घास से मुंह फेर लेती। यह अभ्यास परिपक्व होने पर वह बकरी लेकर राजा के पास पहुंचा। राजा ने हरी घास रखी, वह खाने को उद्यत हुई पर उसी समय वह व्यक्ति छड़ी हाथ में लिए सामने आ गया। बकरी ने मुंह फेर लिया। राजा खुश हो गया। पुरस्कार मिला। तृष्णा, आशा या भोग-पिपासा बकरी के समान है, वह कभी तृप्त नहीं होती। यह एक अनुभूत सत्य है कि उसे व्रत, संकल्प या संयम की छड़ी से ही नियंत्रित किया जा सकता है। नियन्त्रित तृष्णा ही शान्ति का आधार है।

22. कैसे हो शांत सहवास ?

विश्व में अनेक धर्म हैं तथा प्रत्येक धर्म के अपने पवित्र ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में उन धर्मों के मूल सिद्धांतों, आदेशों, उपदेशों आदि का संकलन है। वैदिक परंपरा में वेद, बौद्धों में त्रिपिटक, जैनों में आगम, ईसाइयों में बाइबिल, पारसियों में अवेस्ता, सिक्खों में गुरुग्रंथसाहिब और मुस्लिमों में कुरानशरीफ को पवित्र और पूज्य शास्त्र या धर्मग्रंथ माना जाता है।

शास्त्रज्ञ कौन ?

प्रश्न हो सकता है कि इतने सारे धर्मग्रंथों के निर्माण का उद्देश्य क्या है? भारतीय चिंतन के अनुसार इसका समाधान एक संस्कृत श्लोक में उपलब्ध होता है—

शमार्थं सर्वशास्त्राणि विहितानि मनीषिभिः।

स एव सर्वशास्त्रज्ञः यस्य शान्तं सदा मनः॥

अर्थात् ऋषि-महर्षियों ने शम भाव की प्राप्ति के लिए शास्त्रों की रचना की है। इस अवधारणा के अनुसार जिसका मन सदा शान्त है, वही सर्व-शास्त्रज्ञ है।

जो हर स्थिति में संतुलित रहता है तथा दूसरों की शांति में खलल पैदा नहीं करता, वही शास्त्रों का ज्ञाता है, शास्त्रज्ञ है।

भावितात्मा सदा शान्त

हर व्यक्ति शांति चाहता है। वह परिवार में जीता है, समूह में रहता है। जहां अनेक व्यक्ति होते हैं उन सबकी रुचि, विचार, स्वभाव, आदतें और कार्यशैली भिन्न-भिन्न होती है। इस विभिन्नता के कारण परस्पर के हितों में

टकराव होता है, स्वार्थ पर आंच आती है, मनचाहा नहीं होता तब शांति की कल्पना भी दुरूह हो जाती है। एक व्यक्ति की अशांति पूरे वातावरण को प्रभावित कर देती है। एक गंदी मछली लंबे-चौड़े तालाब को गंदा कर देती है। एक सड़ा पान सभी पानों को खराब कर देता है। नौका में हुआ एक छोटा-सा छेद तबाही का कारण बन जाता है। एक साथ रहें और अशांति न हो तो आश्चर्य की बात मानी जाती है। किन्तु समूह में रहते हुए भी शांति से जीया जा सकता है, ऐसा अध्यात्मविदों का कथन है।

एक शिष्य ने गुरु से पूछा—‘गुरुदेव! एक साथ जीवन जीते हुए हम शांति से कैसे रहें? आप हमारा मार्गदर्शन करें।’ अनुभवी गुरु ने कहा—‘भावितात्मा बनकर शांति से जीया जा सकता है।’ भावितात्मा कौन होता है? इस जिज्ञासा के समाधान में बताया गया कि जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र से अपने आपको भावित कर लेता है, जो यथार्थ को जान लेता है, वह भावितात्मा होता है। ऐसा व्यक्ति चाहे भीड़ में रहे या अकेला, उसकी शांति को कहीं कोई खतरा नहीं है।

शिष्य ने पुनः जिज्ञासा रखी—‘गुरुदेव! कोई भी व्यक्ति अशांत नहीं रहना चाहता। तथापि अशांति के कांटे जीवनपथ में बिखर जाते हैं। ये कांटे क्यों उगते हैं? हम उसका कारण जानना चाहते हैं। आप कृपया हमारी जिज्ञासाओं के उमड़ते ज्वार को शांत करें।’

आचार, विचार, व्यवहार और संस्कार को परिष्कृत करने वाले, शाश्वतिक और सामयिक समस्याओं का समाधान देने वाले, जीवन पथ को निष्कंटक बनाने वाले गुरु ने प्रत्युत्तर प्रदान किया—

अन्योन्यं वत्स! संदेहो निरपेक्षा मनःस्थितिः।
 अभावः सहयोगस्य स्वार्थसिद्धेः प्रधानता॥
 अपालनं समत्वस्य मर्यादाया उपेक्षणम्।
 न्यूना कर्तव्यनिष्ठा च सुतरामसहिष्णुता॥
 स्वच्छान्दावृत्तिरज्ञानमनुशासनपद्धतेः।
 अविवेक इमे स्पष्टमशांतेः सन्ति हेतवः॥

परस्पर का संदेह, निरपेक्ष मनः स्थिति, सहयोग का अभाव, स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति, पक्षपातपूर्ण व्यवहार, मर्यादा की उपेक्षा, कर्तव्यनिष्ठा की कमी, असहिष्णुता, स्वच्छंद वृत्ति, अनुशासन पद्धति की अज्ञता और अविवेक—ये अशांति को पैदा करने वाले घटक तत्त्व हैं। इन बिन्दुओं का विमर्शन करके परिहरण करने से व्यक्ति शांत सहवास प्राप्त कर सकता है।

संदेह

मन की धरती पर जब संदेह का अंकुर उग जाता है तब व्यक्ति चैन से बैठ नहीं सकता। जहां जब कभी दो या अधिक व्यक्ति बातें कर रहे होते हैं, संदेही मन यही सोचता है कि ये मेरे विषय में चर्चा कर रहे हैं। अथवा मेरे विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे हैं। मेरे हितों का विघटन करने की योजना बना रहे हैं। ऐसा व्यक्ति कभी शांति की सांस नहीं ले सकता।

स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति

अपने को केन्द्र में रखकर जो सोचता है, काम करता है, रीति-नीति का प्रवर्तन करता है, वह शांत सहवास का आस्वाद नहीं ले सकता। वहां तो 'मैं पीया मेरा बैल पीया, अब चाहे कुआं ढह पड़े' की कहावत ही चरितार्थ होती है।

पक्षपातपूर्ण व्यवहार

हर व्यक्ति की योग्यता, क्षमता, कार्यशैली अलग-अलग होती है पर मौलिक बातों में समान व्यवहार की अपेक्षा सभी महसूस करते हैं। जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति सभी समान स्तर पर चाहते हैं। घर हो या बाजार, धार्मिक संगठन हो या सामाजिक संस्थाएं अथवा व्यावसायिक प्रतिष्ठान—जहां कहीं पक्षपातपूर्ण रवैया होता है, अनचाहे ही प्रतिक्रिया के कैक्टस (नागफनी) उभर जाते हैं। जहां प्रतिक्रिया का दामन फैलता है वहां सुख और शांति की आशा करना भी दुराशा मात्र है।

असहिष्णुता

यह त्रैकालिक समस्या है। कोई भी युग इस बीमारी की गिरफ्त से मुक्त नहीं रह सका है। कोई भी किसी को सहना नहीं चाहता। आज तो यह प्रश्न

बड़ी तेजी के साथ उछालें मार रहा है कि हम सहें क्यों? सहता वह है जो दबू होता है, डरपोक होता है, कायर और क्लीव होता है। जो सक्षम है, समर्थ है, उसे प्रतिकार करना चाहिए। अन्याय का प्रतिकार न करना भी तो अन्याय है। एक प्रकार की मानसिक हिंसा है। ये स्वर बड़ी बुलंदी से उभर रहे हैं।

मेरे अभिमत से सत्य सापेक्ष होता है। इसलिए सहना और न सहना—यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सापेक्ष है। जहां निर्माण एवं विकास की बात है, वहां सहना वरदायी बनता है। क्षमा, क्षान्ति, सहना ये सब पर्यायवाची हैं। क्षान्ति शब्द की मीमांसा करते हुए लिखा गया है—

**सहनं सर्वदुःखानामप्रतिकारपूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितत्वात् क्षान्तिरित्यभिधीयते।।**

सर्व दुःखों को अप्रतिकारपूर्वक एवं चिन्ता-विलाप रहित भाव से सहने को क्षान्ति कहा जाता है। दार्शनिक सुकरात के जीवन का एक प्रसंग है। उनकी पत्नी बड़ी गुस्सैल थी। उसके विपरीत सुकरात शांत, धीर, गंभीर थे। पत्नी की हर हरकत को प्रसन्नता से सहनकर लेते। एक दिन उनकी पत्नी बड़े आवेश में थी। आवेश में न अपना भान रहता है और न ही औरों का। उसने आव देखा न ताव, शिष्यों के समक्ष ही सुकरात का चोला फाड़ दिया। शिष्य उत्तेजित हो गए। किन्तु सुकरात मुस्कराते रहे। शिष्य ने कहा—‘आप इसका प्रतिकार क्यों नहीं करते हैं। यह आप पर हावी होती जा रही हैं।’ सुकरात संयत स्वर में बोले—‘मैं प्रतिकार करूंगा तो इसका क्रोध और अधिक बढ़ जाएगा। अग्नि में घी का काम करेगा और उसका सामना मुझे ही करना पड़ेगा। पहले सहो या बाद में सहो, क्या फर्क पड़ता है। कम-से-कम यह ज्वालामुखी तो नहीं बनेगी।’ शिष्य निरुत्तर हो गए तथा उनके समभाव की प्रशंसा करने लगे।

स्वच्छंद वृत्ति

स्वतंत्रता विकास की मीनार का महत्वपूर्ण पड़ाव है। व्यक्तित्व विकास के लिए, प्रतिभा निखार के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को चिंतन, भाषण, लेखन, कार्यशैली और अपनी क्षमता का उपयोग करने के लिए स्वतंत्र धरातल मिले पर वही स्वतंत्रता मान्य है, जो दूसरों की

स्वतंत्रता में बाधक न बने। अन्य हितों का विघटन न करे। अपनी मनचाही में अनचाही स्थितियां पैदा न हो जाए, इसका खयाल रहे। अन्यथा अशांति की चिनगारी जीवन की समस्त हरीतिमा को नष्ट-भ्रष्ट कर देगी।

अनुशासन पद्धति का अज्ञान

अज्ञान दुःखों का उत्स है, संकटों का सर्जक है। अज्ञानता के कारण व्यक्ति को करणीय और अकरणीय का बोध नहीं होता। भीड़ में जो कुछ होता है उसमें अज्ञानता की प्रतिच्छाया होती है। तथाकथित नेतृत्व के द्वारा उसको उकसा दिया जाता है और हित-अहित की चिंता किए बिना वे उनके इशारों पर नाचने लग जाते हैं फिर तो अशांति को बढ़ावा देने में उनकी प्रमुख भूमिका बन जाती है।

अविवेक

सही क्या और गलत क्या? इसकी मीमांसा विवेक चेतना के जागरण से होती है। क्षीर और नीर को पृथक-पृथक करने की क्षमता हंस-मनीषा में होती है। हंस-मनीषा का अपर नाम है-विवेक, यह कहा जाए तो असमीचीन नहीं होगा। इसे शरीर विज्ञान की भाषा में रिजनिंग माइंड कहा जाता है। निर्णायक क्षमता के अभाव में व्यक्ति अशांत होता है और अपने परिपार्श्व में भी वैसे प्रकंपनों को पैदा कर जीवन की रसमयता को सारहीन बना देता है।

उपर्युक्त कारणों और हेतुओं को जानकर-समझकर व्यक्ति अपना पर्यालोचन करे, आत्म-प्रतिलेखन करे तो काफी हद तक अपना बचाव कर सकता है।

परिस्थितियों को बदल दें, यह संभव नहीं है। किन्तु मनःस्थिति में परिवर्तन करना व्यक्ति के हाथ में है। यदि आप छोटे से सूत्र-‘कोई बात नहीं’ को आत्मसात कर लें तो आपकी शांति को कोई खतरा नहीं होगा। फिर जीवन में चाहे सम्मान मिले या अपमान की बौछारें, प्रशंसा मिले या उलाहनें, सुख-सुविधा मिले या कठिनाइयां-इस वाक्य को जीवन की प्रयोगशाला में प्रायोगिक रूप देकर शांति के रंग-बिरंगे सुमनों की सुवास का आनन्द आप उठा सकेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है।

23. बदले जीवन-शैली

मानव जीवन दुर्लभ है। ऋषि-महर्षि समय-समय पर बताते रहते हैं कि यह जीवन दुर्लभ चिंतामणि रत्न के समान होता है। कुछ लोग इस जीवन का मूल्य नहीं समझते। कुछ लोगों के जीवन का लक्ष्य होता है—खाओ, पीओ और मौज करो। कुछ लोग सार्थक श्रम न कर के जुआ, ताश, चौपड़, शराब आदि में अपना समय गुजार देते हैं। कुछ लोग मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करके हिंसा, शोषण, अत्याचार, आतंक आदि राष्ट्रविरोधी एवं नीतिविरोधी गतिविधियों में अपना जीवन होम कर देते हैं। कुछ अशिक्षित और निर्धन लोग आपसी कलह, द्वेष, चोरी, राहजनी आदि कुप्रवृत्तियों एवं कुचेष्टाओं के कारण पशुओं से भी गया-बीता जीवन व्यतीत करते हैं। इस दुर्लभ चिंतामणि रत्न की कीमत जानने के लिए पारखी नजर चाहिए, अन्यथा संयोग एवं सुयोग से मिला हुआ यह जीवन-रत्न कौड़ी के मोल के बराबर भी नहीं रहता।

जीवन को सार्थक बनाना मनुष्य के अपने हाथ में है। वातावरण से अच्छे तत्व जुटाकर हम अच्छी जीवन-शैली अपना सकते हैं। हमें मनुष्य जन्म मिला है और हम इस जीवन को सफल बनाना चाहते हैं यह मनोवृत्ति व्यक्ति को अच्छी जीवन-शैली की ओर मोड़ सकती है।

यू तो मनुष्य जिस परिवेश में रहता है, जिस प्रकार के पारिवारिक संस्कारों को ग्रहण करता है, उसकी जीवन-शैली उसी के अनुरूप हो जाती है। कुछ लोगों के जीने का अपना एक अलग किस्म का अंदाज होता है, उनकी जीवन-शैली उनकी निजी मनोवृत्तियों के अनुसार ढल जाती है। वर्तमान समय की जीवन-शैली विज्ञान के आविष्कारों से पूरी तरह

प्रभावित दिखाई देती है और उस पर सुविधावाद के बेल-बूटे कढ़े हुए हैं। कदम-कदम पर प्रतियोगिताएं हैं। चारों ओर भाग-दौड़ है। हिंसा का माहौल बढ़ा हुआ है। आतंक का खतरा निरंतर मंडरा रहा है। मनुष्य जब तक अपनी जीवन-शैली को नहीं बदलेगा, तब तक उसे युगीन समस्याओं का समाधान भी नहीं मिल सकता।

शैली के दो प्रकार

जीवन-शैली के मुख्यतः दो स्वरूप होते हैं—अंतर्मुखी जीवन-शैली और बहिर्मुखी जीवन-शैली। अंतर्मुखी जीवन-शैली में विश्वास करने वाले व्यक्ति त्याग, संयम एवं सद्गुणों का जीवन जीना पसंद करते हैं। वे अपने जीवन का एक लक्ष्य निर्धारित करके चलते हैं। लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्हें कभी-कभी युग की धारा से हटकर भी चलना पड़ता है। धारा के प्रतिकूल या उससे विपरीत दिशा में चलना काफी कठिन होता है परंतु जिसके दिल में कुछ करने या पाने का जज्बा होता है, उसे धारा का रुख मोड़ना पड़ता है।

बहिर्मुखी जीवन-शैली में विश्वास करने वाले व्यक्ति समाज एवं परिवार में चल रही जीवन-शैली का अनुकरण करते हैं। दुनिया की धारा जिस ओर बह रही होती है, उस ओर वे अपने आपको मोड़ देते हैं। आज प्रायः लोग धन की दौड़ में शामिल हैं, सुख-सुविधा के साधनों को जुटाने की दौड़ में शामिल हैं। वे श्रमशीलता का पथ छोड़कर सुविधावाद को प्रश्रय दे रहे हैं। ऐसे व्यक्ति अपने एवं अपने परिवार के लिए भौतिक पदार्थों का अम्बार भले ही खड़ा कर दें, परंतु कर्तृत्व की नई रेखाएं नहीं खींच सकते।

जो लोग कुछ होना चाहते हैं, कुछ बनना चाहते हैं, किसी विशेष लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें प्रतिस्रोतगामी बनना होगा। प्रतिस्रोतगामी बनने का अर्थ है कि सुख-सुविधावाद को छोड़ना और श्रमप्रधान जीवन-शैली को अपनाना, भोगप्रधान जीवन-शैली को त्यागकर त्यागप्रधान जीवन-शैली को स्वीकारना, असंयम की दिशा में ले जाने वाली जीवन-

शैली को छोड़कर संयमप्रधान जीवन-शैली की ओर प्रस्थान करना। कुछ व्यक्ति वैचारिक स्तर पर इस आदर्श को स्वीकार करते हैं कि संयम की मूल्यवत्ता अधिक है अतः जीवन-शैली संयमप्रधान होनी चाहिए। संभवतः इस चिंतन के आधार पर वे कुछ समय के लिए इस ओर प्रवृत्त भी हो जाएं, परंतु जब दुनिया के अधिकांश लोगों को सुविधावाद की दिशा में भागते हुए देखते हैं तो उनकी मानसिकता भी कमजोर पड़ जाती है और वे अपनी जीवन-शैली को अनुस्रोत की ओर मोड़ देते हैं।

वर्तमान समय में हम देख रहे हैं कि जीवन-मूल्यों का क्षरण हो रहा है। एक समय था जब भारतीय जीवन-शैली की एक अलग पहचान थी, उसका सामाजिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्य था और भारतवासी उस जीवन-शैली के कारण दुनिया में विशेष रूप से प्रतिष्ठित थे। अनुशासन, सहनशीलता, करुणा, संयम, श्रमशीलता, सौहार्द, सहयोग भावना आदि अनेक सात्विक गुणों की प्रतिष्ठा उनके जीवन में थी और व्यवहार के धरातल पर उनकी उन्नत एवं शिष्ट जीवन-शैली में मानवता के दिव्य स्वरूप के दर्शन होते थे। विज्ञान की चकाचौंध और सुख-सुविधावाद ने उस जीवन-शैली को धीरे-धीरे समाप्त कर दिया। आज लोग संवेदनाशून्य हो रहे हैं। वे श्रेष्ठ संस्कारों व सद्वृत्तियों के धरातल से काफी दूर हो गए हैं। जिस जीवन-शैली की अर्थवत्ता एवं मूल्यवत्ता सदियों और युगों तक बनी रही, उस ओर से विमुख होकर वे सभ्यता और शिष्टता के कौन से प्रतिमान खड़े कर पाएंगे, यह कहना कठिन है। शांति एवं सद्भावपूर्ण जीवन-जीने का अरमान हर युग में हर व्यक्ति का रहा है और वह उसे पूरा करता आया है। किंतु जीवन-मूल्यों के टूटे-बिखरे ध्वंसावशेषों के बीच शांति और सद्भावना को ढूंढने और पाने की अभिलाषा करने वाले लोग निराशा के सिवाय और क्या पा सकेंगे ?

शिक्षा संस्कारों की

एक समय था जब घर में संतान पैदा होती थी तो उसे बड़े-बुजुर्ग जन्मघूँटी पिलाते थे, दादा-दादी संस्कारों की शिक्षा देते थे और रात में

सोने से पहले बच्चों को शिक्षाप्रद कहानियां सुनाते थे। आज वे सारी बातें इतिहास बनकर रह गई हैं। अब तो बच्चा थोड़ा-सा समझदार होते ही सेलफोन, आइपेड, रेडियो, कम्प्यूटर, इंटरनेट आदि से जुड़ जाता है। अब उसके मासूम दिमाग में वे संस्कार नहीं पहुंच पाते जिनकी उसको प्रारंभिक अवस्था में जरूरत होती है। उसकी जीवन-शैली शुरुआत में ही बदल जाती है, उसमें विकृतियों का समावेश प्रारंभ हो जाता है। कुछ माता-पिता ज्ञान-विज्ञान की दिशा में अभिरुचि रखनेवाले बच्चे से शीघ्र ही संतुष्ट हो जाते हैं, परंतु वह बच्चा यौवन की दहलीज पर पैर रखते ही जब अपने करतब दिखाना शुरू करता है, तब वे अनुभव करते हैं कि उसे संस्कारों की शिक्षा देना कितना आवश्यक था। संस्कारों के अभाव में शुष्क, रूक्ष एवं मूल्यहीन जीवन-शैली पनपती है और वह पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश को निराशा और बेगानेपन से भर देती है।

एक अभियान

आज जीवन-शैली में आमूलचूल बदलाव की अपेक्षा है। उसे बदलने के लिए घर-परिवार का माहौल बदलना होगा, समाज की व्यवस्थाएं बदलनी होंगी, देशव्यापी स्तर पर व्यवस्थाओं में सुधार करना होगा। एक अकेले व्यक्ति की जीवन-शैली के बदलाव से नहीं, बल्कि जन-जन की जीवन-शैली में परिवर्तन के अभियान से एक स्वस्थ चेतना का जागरण होगा। हृदय-परिवर्तन और व्यवस्था-परिवर्तन दोनों को संयुक्त करके ही जीवन-शैली के बदलाव की कल्पना साकार की जा सकती है। आचार्यश्री तुलसी ने लिखा है—

**‘बदले हृदय व्यवस्था बदले, बने विधायक दृष्टि,
नहीं निषेधक भाव बढ़े, यह सम्यग्दर्शन सृष्टि,
अविवेकी अंधानुकरण की क्यों हो वृत्ति विषैली,
जैनी जीवन-शैली।’**

जीवन-शैली को सम्यक् बनाने के लिए यदि राज्य स्तर पर कोई विधिविधान बन जाए तो संभव है कि कुछ तात्कालिक परिवर्तन हो जाए

परंतु उसकी निष्पत्ति स्थायी नहीं होगी। राज्यसत्ता को भी जन-चेतना को समझना पड़ता है। अधिसंख्य लोग सुधार की प्रक्रिया में विश्वास नहीं करते। जो सहज रूप में हो रहा है वे उसमें संतुष्ट हो जाते हैं। इस स्थिति में समूहगत समर्थन न मिल पाने के कारण राज्यसत्ता भी किसी अभियान को अपेक्षित गति नहीं दे पाती। जीवन-शैली के औचित्य-अनौचित्य की जानकारी जन-जन को होगी, तभी चेतना की लौ प्रदीप्त हो सकेगी।

स्वर्ग-नरक

चीन के एक दार्शनिक संत अपनी कुटिया में बैठे थे। एक दिन एक व्यक्ति घोड़े पर सवार होकर उनके पास आया और एक जिज्ञासा रखी। उसने संत से यह बताने का अनुरोध किया कि स्वर्ग क्या है और नरक क्या है? संत ने व्यक्ति को ऊपर से नीचे तक देखा और पूछा—‘तुम कौन हो? तुम्हारा परिचय क्या है?’ व्यक्ति ने अकड़कर कहा—‘मैं इस साम्राज्य का सेनापति हूँ।’ संत ने सेनापति की अकड़ को पकड़ा और कहा—‘तुम सेनापति हो? चेहरे से तो लगते ही नहीं। शक्ति से तो भिखारी मालूम पड़ते हो।’ सेनापति को गुस्सा आया और उसने म्यान में से तलवार खींच ली। संत ने यह देखकर कहा—‘यह तलवार लोहे की है क्या? इसमें धार है क्या? क्या इसे चलाना जानते हो? क्या तुम्हारी कलाई में इतनी ताकत है कि तुम तलवार से गर्दन पर वार कर सको?’ सेनापति को इतना कुछ सुनने की आदत नहीं थी। उसका गुस्सा बढ़ गया। बढ़ते हुए गुस्से में उसने तलवार को कसकर पकड़ लिया। ऐसा लगा कि वह अब वार करने ही वाला है। संत ने क्रोध से आगबबूला हुए सेनापति को देखकर कहा—‘सेनापति! यही नरक है। नरक का द्वार यहीं से खुलता है।’ सेनापति इतना सुनते ही स्तब्ध रह गया। उसने सोचा—अरे! मैंने एक संत के साथ कैसा व्यवहार कर दिया। उसने सिर झुकाकर तलवार को वापस म्यान में डाला। उसे संत के चरणों में रखा और प्रणत होकर बैठ गया। संत ने उसे उठाया और कहा—‘सेनापति! यही स्वर्ग है। विवेकशीलता, संयम और सहनशीलता से ही स्वर्ग का द्वार खुलता है।’

परिस्थितियों के थोड़ा-सा भी प्रतिकूल होने पर अथवा मन के अनुकूल बात न होने पर क्षण भर में ही मानसिक संतुलन खो बैठना संतुलित जीवन-शैली का प्रतीक नहीं है। सद्वृत्तियों को जीवन में समुचित रूप से विकसित न कर पाने से ऐसी विषम स्थितियां आ जाती हैं जहां कालचक्र संपूर्ण जीवन को उल्टा करके छिन्न-भिन्न कर सकता है। आवश्यकता है उस जीवन-शैली की जो सद्वृत्तियों का आलोक चेतना में संचारित करे और जीवन-मूल्यों की आधारशिला पर मनुष्य का सम्यक् विकास करे।

24. सार्थक दिशा की ओर

व्यक्ति के विचार स्थिर नहीं रहते। उसका मन चंचल है। वह कभी कुछ सोचता है, कभी कोई निर्णय करता है और कभी उसको बदल देता है। उसके निर्णय में स्थिरता नहीं रहती। मन में विचारों की तरंगें उठती रहती हैं, परंतु तरंगों के उतार-चढ़ाव का क्रम नियमित, संतुलित एवं शृंखलाबद्ध नहीं रहता। कुछ लोग परिवेश से प्रभावित होकर, कुछ लोग स्वार्थ की भावना के कारण तो कुछ लोग अवसरवादी होकर अपने विचार बदल लेते हैं। भारतवर्ष में आम जनता को जो मौलिक अधिकार प्राप्त हैं उनमें वैचारिक स्वतंत्रता को भी स्थान दिया गया है। कुछ विचार ऐसे होते हैं जो अल्प-समय के लिए व्यक्ति की सफलता में सहायक बनते हैं या उनका एक बार प्रत्याशित-अप्रत्याशित लाभ मिल जाता है। थोड़ा-सा लाभ व्यक्ति को प्रभावित करता है और वह उस दिशा में बढ़ता रहता है।

कुछ लोग किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने से पहले ही अनेक कोण से सोचते हैं, उचित-अनुचित का आकलन करते हैं और फिर अपनी विचारधारा को सार्थक दिशा की ओर मोड़ देते हैं। इससे जीवन सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की ओर अग्रसर होता है। फलतः समय-समय पर ज्वार की तरह उठकर आने वाली समस्याएं उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल पातीं।

बदलाव किसमें ?

हर व्यक्ति चाहता है कि उसके परिवार में सार्थक बदलाव आए। पिता चाहता है कि उसका पुत्र बदले। मां चाहती है कि उसकी बेटी बदले। सास चाहती है कि उसकी बहू बदले। बहू चाहती है कि उसकी सास बदले। पति चाहता है कि उसकी पत्नी बदले। पत्नी चाहती है कि उसका पति बदले।

सब लोग विचार और व्यवहार दोनों स्तरों पर बदलाव के पक्षधर हैं परंतु आश्चर्य यह है कि स्वयं बदलने के लिए कोई तैयार नहीं है। हर व्यक्ति उपदेश और ज्ञान बांट रहा है, परंतु वह स्वयं नहीं देखता है कि उन जीवन-मूल्यों की धरती पर उसके पांव टिके हुए हैं या नहीं। एक कवि ने कितना सही लिखा है—

**दुनिया को बदलने की तमन्ना है अगर।
पहले खुद को बदलना सीखो।।**

कोई व्यक्ति यह सोचे कि मेरे बदलने से क्या फर्क पड़ने वाला है? उस आधार पर दुनिया में नैतिकता का ग्राफ कभी नहीं बदल जाएगा, मूल्यों की प्रतिष्ठा कभी नहीं हो पाएगी और समस्याओं के काले बादल कभी नहीं छंट पाएंगे। यह सोच निराशाजनक है। सकारात्मक चिंतन करने के लिए एक-एक व्यक्ति को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि मैं बदलूंगा तो आसपास का परिवेश बदलेगा। ऐसा होने से ही सार्थक दिशा की ओर गति हो पाएगी। इसके लिए एक उद्घोष है—

**हम बदलेंगे, युग बदलेगा,
हम सुधरेंगे, जग सुधरेगा।।**

जैन दर्शन के अनुसार बदलाव/परिवर्तन एक शाश्वत प्रक्रिया है। जड़ और चेतन हर पदार्थ बदलता है। अगर बदलाव नहीं होता तो आदिम युग का आदमी आधुनिक युग तक कैसे पहुंचता? सभ्यता और संस्कृति के कीर्तिमान कैसे स्थापित होते? भारत जगद्गुरु की संज्ञा से कैसे विभूषित होता? सार्थक दिशा में बदलाव का ही तो यह परिणाम है। पिछली एक शताब्दी में मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में काफी प्रगति की है परंतु जीवन-मूल्यों की दिशा में सार्थक बदलाव नहीं हो पाया। यही कारण है कि सिर्फ व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं, अपितु पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश में भी विषमता का विष घुल रहा है। प्रेम की धाराओं में द्वेष की दुर्गन्ध व्याप्त हो रही है। जीवन को फिर से सुगंधित बनाने की अपेक्षा है, सांसों में घुले हुए क्रोध के जहर को उपशम-जल से धोने की जरूरत है।

मनुष्य अपने आपको बदलने का लक्ष्य तय करने के बाद एक-एक कदम आगे बढ़े। वह प्रतिदिन श्रेष्ठताओं का वरण करे और सोचे कि आज मैं जिस बिंदु पर खड़ा हूं, कल उससे अधिक ऊंचाई प्राप्त करूंगा, परसों उससे आगे ऊपर की ओर प्रस्थान करूंगा। इस तरह क्रमशः हर अगले दिन कुछ न कुछ और अधिक ऊंचाई प्राप्त करने का प्रयास करता रहे। यह प्रक्रिया लम्बे समय तक चले। इस क्रम से एक दिन ऐसा आएगा जब बदलाव महसूस होगा और हम धार्मिक आचरण की सार्थकता का अनुभव भी कर सकेंगे। यही सार्थक बदलाव व्यक्ति को लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ाता है।

जो व्यक्ति अपने व्यवहार में बदलाव की अपेक्षा अनुभव करता है उसे अपनी आदतों की सूची भी बनानी चाहिए। उस सूची का वह स्वयं निरीक्षण करे और तटस्थ भाव से तय करे कि कौन-सी आदत अच्छी है और कौन-सी बुरी? बुरी आदतों को बदलाव के लिए चिह्नित किया जाए। जैसा व्यवहार वह दूसरों से चाहता है वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करे। सूची में जो व्यवहार ठीक न लगे, उसे परिमार्जित करने का लक्ष्य बनाया जाए। प्रतिदिन सोने से पहले अपनी दिनचर्या पर ध्यान देकर अगले दिन के लिए फिर उस लक्ष्य को साधने का प्रयास किया जाए।

विवेक चेतना की भूमिका

अपनी वृत्तियों और व्यवहारों को परिमार्जित करने या बदलने के लिए विवेक चेतना को जागृत करना जरूरी है। एक दिन कोई गृहपति गन्ने खरीदकर आया। उसने अपनी दो पुत्रवधुओं को आदेश दिया—‘आज ईंधन के स्थान पर गन्नों का उपयोग करके खाना बनाना है।’ एक बहू ने चूल्हे में लकड़ियों के स्थान पर गन्ने डाल दिए और दियासलाई से उन्हें जलाने का प्रयास करने लगी। परंतु न तो चूल्हा जला और न ही खाना पका। दूसरी बहू गन्ने लेकर आंगन में बैठ गई। उसने पड़ोस में रहने वाले बच्चों को बुला लिया और उन्हें कहा कि आज जीभर गन्ने खाओ। बच्चों के साथ वह खुद भी गन्ने खाने लगी। एक घंटे में सभी ने गन्नों का रस चूस लिया। वहां छिलकों एवं डंठलों का ढेर लग गया। उसने चूल्हे में छिलके और सूखे डंठल डाले। सदा

की तरह चूल्हा जलाया और आसानी से खाना बना लिया। यह है विवेक चेतना की जागृति का उदाहरण। किसी भी दिशा में सार्थक बदलाव करने में विवेक की अहम भूमिका रहती है।

पंचसूत्री प्रोग्राम

कुछ व्यक्ति सलक्ष्य प्रयास करके भी वांछित दिशा में बदलाव नहीं कर पाते। वे इस पंचसूत्री प्रोग्राम को लेकर अपने लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। पहला सूत्र है—आस्था। व्यक्ति के मन में आस्था होनी चाहिए कि विचारों में बदलाव आ सकता है। दूसरा सूत्र है—आशा। मन में उम्मीद होनी चाहिए कि मेरे विचारों में परिवर्तन संभव है। तीसरा सूत्र है—विश्वास। मन में इतना प्रबल विश्वास होना चाहिए कि विचारों में परिवर्तन अवश्य होगा। चौथा सूत्र है—इच्छा शक्ति। मन में इतनी दृढ़ और मजबूत इच्छाशक्ति होनी चाहिए कि मैं अपने विचारों में परिवर्तन करके ही रहूंगा। पांचवा सूत्र है—स्वतः सुझाव। अपने मन को निरंतर सुझाव देते रहें कि विचारों में बदलाव आ रहा है। इन पांच सूत्रों की भावनाओं से अपने विचारों को भावित करके व्यक्ति निश्चित रूप से सफल बन सकता है।

सिकन्दर यूनान का सम्राट था। उसके मन में विचार आया कि वह विश्व-विजेता बने। वह अपने सैन्य बल के साथ भारत पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से निकला। रास्ते में उसे एक संत मिले। सिकन्दर ने सेना को रोका और संत के दर्शन किए। संत ने सिकन्दर से पूछा—‘आज सेना लेकर किधर जा रहे हो?’ सिकन्दर ने कहा—‘हिन्दुस्तान को जीतने की तमन्ना है।’ संत ने आगे कहा—‘हिन्दुस्तान पर विजय पाने के बाद क्या करोगे।’ सिकन्दर ने कहा—‘फिर एशिया महाद्वीप पर विजय प्राप्त करूंगा।’ संत—‘एशिया महाद्वीप पर विजय प्राप्त करने के बाद क्या योजना है?’ सिकन्दर ने कहा—‘फिर पूरी दुनिया को जीतने की तमन्ना है। विश्व-विजयी सिकन्दर कहलाने की तमन्ना है।’ संत ने कहा—‘मान लो तुम विश्व-विजेता बन जाओगे, उसके बाद क्या करोगे?’ सिकन्दर ने कुछ देर सोचकर कहा—‘महात्मन्! उसके बाद मैं चैन से जीना पसंद करूंगा।’ संत ने कहा—‘अभी तो तुम अमन-चैन का जीवन जी रहे हो। विश्व विजेता बनने के लिए तुम्हें

कितनी लड़ाइयां लड़नी पड़ेगी। लाखों लोगों का खून बहाना पड़ेगा। मार-काट करनी पड़ेगी। पांच-सात साल के इस अभियान में तुम अशांत रहोगे, कभी चैन की नींद नहीं ले पाओगे। इसके साथ एक बात पर और ध्यान दो, विश्वविजेता बनने के बाद वे लोग, जिनके बंधु-बांधवों को तुमने या तुम्हारी सेना ने युद्ध में मौत के घाट उतारा, वे तुम्हें चैन से रहने देंगे? जो लोग तुम्हारी तलवार की धार का शिकार होंगे, वे तुम्हें शांति से जीने देंगे? क्या तुम विश्व विजेता बनकर वास्तव में चैन से जी पाओगे?' अनुश्रुति है कि संत की बात सुनकर सिकन्दर के विचार बदल गए।

विचारों और व्यवहारों को बदलने के साथ-साथ व्यक्ति का यह भी उद्देश्य होना चाहिए कि जो बदलाव व्यक्तिगत समस्या को सुलझाए, पारिवारिक कलह मिटाए, मानसिक तनाव दूर करे, अपराध चेतना दूर कर अहिंसा और मैत्री का भाव जगाए, उत्तरदायित्व का बोध कराए, भावनात्मक विकास को सुदृढ़ता दे, शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करे, स्वावलंबी बनाए, मानसिक विकृतियां दूर करे, सौहार्द-प्रेम का विकास करे तथा वर्तमान का सुधार करके सुंदर भविष्य के प्रति मनुष्य को आश्वस्त बनाए, ऐसा बदलाव ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए उपयोगी हो सकता है।

25. सामञ्जस्य का विज्ञान

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह परिवार और समाज के बीच में रहता है। कन्दराओं में गहन साधना करने वाले तपस्वी, मुनि, संत एवं डाकू, हत्यारे, आतंकी आदि साधनाशील और समाज-कंटकों का जीवन सामाजिक नहीं होता। ये एकान्त का अथवा आवरण का जीवन जीते हैं। सामान्य व्यक्ति प्रायः समूह में रहते हैं। सामूहिक जीवन में एक-दूसरे से बातचीत होती है, एक-दूसरे के बारे में जानकारी मिलती है, एक-दूसरे का सहयोग मिलता है, एक-दूसरे को सहयोग देना होता है। जो लोग आपस में प्रेम, सौहार्द, भाईचारे, समन्वय, सहयोग, अनुशासन और मर्यादाओं के साथ रहते हैं, उन्हें जीवन जीने में एक अद्भुत आनंद आता है। ऐसे लोगों के जीवन को 'सफल अभियोजन' (Successful Adjustment) का जीवन माना जाता है। इसके विपरीत उस समुदाय या उस परिवार का जीवन जिसमें आपस में कलह होता रहता है, सब एक-दूसरे की बातों को काटते हैं, एक-दूसरे का अहित करते हैं, एक-दूसरे से ईर्ष्या रखते हैं, एक-दूसरे का सहयोग नहीं करते, बड़े-छोटे का परस्पर ध्यान नहीं रखते, उनका जीवन न सिर्फ अपने लिए भारभूत होता है, बल्कि वे परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए भी एक समस्या होते हैं। ऐसे लोगों को अपने जीवन में ही आनंद, संतुष्टि नहीं मिलती, तो भला वे परिवार और समाज के लिए खुशियां कैसे जुटा सकते हैं? ऐसे लोगों के जीवन को 'विफल अभियोजन' (Failure Adjustment) का जीवन माना जाता है।

जीवन जीना एक कला है। खाया, पीया और सो गए, बस जीवन इतना ही नहीं है। इतना तो पशु-पक्षी भी कर लेते हैं। मनुष्य का मनुष्यत्व एवं उसका विवेकपूर्ण आचरण ही उसे पशु-पक्षी की श्रेणी से अलग

करता है। मनुष्य सोचता है, समझता है, विचार-विमर्श करता है, स्वयं को परिस्थिति के अनुरूप ढाल सकता है। किसी भी सभ्यता-संस्कृति का विकास या हास उसी पर निर्भर करता है। सभ्यता तथा श्रेष्ठ संस्कृति के उन्नयन हेतु अच्छा अभियोजन (Good Adjustment) जरूरी है। अच्छे अभियोजन की कला को सीखने के लिए मनोविज्ञान का सामान्य अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।

मनोविज्ञान की उपयोगिता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। साहित्य, शिक्षा, कला, रहन-सहन, खान-पान, धार्मिक संस्कार, सामाजिक/पारिवारिक कर्तव्य आदि सभी क्षेत्रों में मनुष्य की मौलिक वृत्तियों की अहम भूमिका रहती है। मनुष्य के व्यक्तित्व-निर्माण और कर्तृत्व को समाजोन्मुखी बनाने में व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तिगत एवं सामाजिक मनोविज्ञान का अच्छा उपयोग हो सकता है। मनोविज्ञान का संबंध मनुष्य की मौलिक वृत्तियों से है। वह व्यक्ति के व्यवहार एवं अनुभूतियों का अध्ययन करता है। मनुष्य किसी भी कार्य को कैसे करता है? क्यों करता है? कब करता है? आदि अनेक पहलुओं की जानकारी मनोविज्ञान के द्वारा प्राप्त होती है। एक व्यक्ति हंस रहा है। वह क्यों हंस रहा है? वह सकारण हंस रहा है या अकारण ही हंस रहा है। क्या वह किसी की मूर्खता पर हंस रहा है? क्या वह स्वयं अपने ऊपर हंस रहा है? उसकी हंसने की मनोवृत्ति क्यों है? इसका उत्तर वातावरण, परिस्थिति एवं अनुभूतियों के आधार पर मनोविज्ञान देता है।

विश्लेषण मनोवृत्ति का

मनोविज्ञान मनोवृत्ति के आधार पर व्यवहार की व्याख्या करता है और व्यवहार के आधार पर मनोवृत्ति का विश्लेषण करता है। परिवार में दो भाइयों के बीच आपसी समन्वय नहीं है। एक के विचार दूसरे से मेल नहीं खाते। दोनों एक-दूसरे का कुशलक्षेम नहीं पूछते। दोनों का कार्यक्षेत्र एक ही है और एक ही शो-रूम में काम करते हैं, पर दोनों के बैठने का समय अलग होता है। घर के किसी भी सामान का वे आपस में मिलकर उपयोग नहीं करते। अगर एक-दूसरे का कहीं आमना-सामना हो जाता है तो दोनों

एक-दूसरे को उपेक्षा या तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। ऐसा क्यों होता है? मनोविज्ञान उनके व्यवहारों की व्याख्या कर सकता है।

लड़कियों की नई-नई शादी होती है। वे ससुराल जाती हैं। वहां उन्हें नया वातावरण मिलता है। ससुराल के सभी व्यक्तियों के साथ उनका नया रिश्ता जुड़ता है। एक-दूसरे की अभिवृत्तियों को जानने तथा एक-दूसरे के व्यवहारों को समझने की अपेक्षा रहती है, लेकिन जब तक लड़कियों को स्वयं की मानसिकता के बारे में ही स्पष्ट जानकारी नहीं होगी, तो दूसरे की मानसिकता का अनुभव और विश्लेषण वे किस आधार पर करेंगी? परिणाम यह होता है कि आपसी रिश्तों की अहमियत को न समझ पाने के कारण परिवार में उनका सफल अभियोजन नहीं हो पाता। परिवार के साथ रहने के लिए एक-दूसरे के मन को जानना एवं समझना जरूरी है। इसमें मनोविज्ञान के सिद्धांत सहयोगी बन सकते हैं।

मनोविज्ञान की एक शाखा है बाल मनोविज्ञान। जो महिलाएं अपने बच्चों का अच्छा सर्वांगीण विकास करना चाहती हैं उनके लिए बाल मनोविज्ञान का बोध भी जरूरी है।

तैयारी हो

मनोविज्ञान इस बात का विश्लेषण करने का प्रयास करता है कि व्यक्ति किस वस्तु पर ध्यान देता है, किस संबंध में सोचता है, किस दृष्टि से समझता है, कहां, क्या सीखता है तथा उसमें किस प्रकार कल्पना, संवेदना और प्रवृत्ति का विकास होता है। इन अनुभवों के आधार पर किसी भी व्यक्ति के भावों, संवेगों, अनुभूतियों आदि को जाना जा सकता है। इस क्षमता का विकास करके व्यक्ति पारिवारिक, सामाजिक या संस्थागत जीवन में अच्छा अभियोजन बनाने की पहले से तैयारी कर सकता है।

जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य किसी न किसी के साथ रहता है। अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग प्रकार के भाव, संवेग, अनुभूतियां, व्यवहार और चिंतन होता है। समय, वातावरण और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ इनमें भी परिवर्तन होता रहता है। मनोविज्ञान इन विविध मानसिकताओं

और भावों के बारे में एक नई अवधारणा प्रस्तुत करता है, जो व्यक्ति को सामाजिक जीवन में अभियोजन करने की दिशा बता सकती है।

पुरुष हो या महिला, शिक्षित हो अशिक्षित, हर उम्र के हर व्यक्ति को सामान्य मनोविज्ञान का ज्ञान जरूरी है। उसके द्वारा वह अपने परिवार, मित्र, पड़ोस, समाज आदि की मानसिकता को अच्छी तरह समझ सकता है। यही समझ उसके सफल और अच्छे अभियोजन का आधार बन सकती है।

26. सबसे बड़ा धन है सन्तोष

आज हर व्यक्ति अशांत है। उसे चैन नहीं है। नींद में भी वह बेचैन रहता है। इसका कारण है—मानसिक असन्तोष। व्यक्ति के खाने की सीमा है। एक सीमा से अधिक वह खा नहीं सकता। व्यक्ति के जगने की भी एक सीमा है। उस सीमा के बाद उसे सोना पड़ता है। परंतु व्यक्ति की आशा-आकांक्षा या लालसा की कोई सीमा नहीं है। कहा भी गया है—**सांसों की सीमा निश्चित है, इच्छाओं का अंत नहीं है।** सन्तोष के अभाव में पैदा होनेवाला मनोभाव ही अशांति है। इसका सृजन मनुष्य खुद करता है। जो व्यक्ति पदार्थों में रमण करता है, लालसाओं के साथ विचरण करता है, उसे कभी संतोष नहीं मिल सकता। जो व्यक्ति अपने आप में रमण करता है तथा प्राप्त सुख-साधनों के साथ शांति से जीता है, उसे कभी असन्तोष का अनुभव नहीं हो सकता। सन्तोषी सदा सुखी रहता है जबकि असन्तोषी सदा दुःखी होता है। सन्तोष वस्तुतः धार्मिक व्यक्ति की सम्पदा है।

सुख-चैन में

एक कुंभकार अपने घर के बाहर बैठकर घड़े बनाता था। वहीं वह घड़ों को पकाता था। वहीं उनका ढेर लगा देता था। जिनको जरूरत होती थी, वे घड़े लेने आते थे। घर के बाहर ही फूस की चटाई पर कुंभकार लेटा रहता था और शाम तक जितने घड़े बिकते, उसे जितने पैसे मिलते, उन्हीं से वह अपना गुजारा कर लेता था। रात को सोने से पहले वह दो-चार भजन गा लेता, परमपिता परमेश्वर के प्रति आभार प्रकट करता, मन में संतोष का अनुभव करता और चैन की नींद सो जाता। यही उसका प्रतिदिन का क्रम था।

एक दिन एक ग्राहक उसके पास घड़े खरीदने के लिए आया। उसने कुंभकार से कहा—‘वर्षों से तुम्हें यहां देख रहा हूं। तुम अच्छे घड़े बनाते हो। यदि आसपास के गांवों में और बाजारों में जाकर घड़े बेचोगे तो तुम्हारी बिक्री काफी अच्छी हो जाएगी और तुम काफी पैसे कमा लोगे।’ कुंभकार बोला—‘भैया! मेरी रोजी-रोटी यहीं पर अच्छी हो रही है। अन्यत्र जाने से क्या होगा?’ ग्राहक ने परामर्श देते हुए कहा—‘काफी पैसे कमा लेने के बाद बड़ी-सी जमीन ले लेना, अच्छा-सा मकान बनवा लेना, अन्य गांवों में माल लाने व ले जाने के लिए ट्रक खरीद लेना, अपने आने-जाने के लिए एक कार खरीद लेना और भी सुख-सुविधा के साधन बहुत हैं, वे भी ले लेना।’

कुंभकार ने फिर पूछा—‘इसके बाद मैं क्या करूंगा?’ ग्राहक बोला—‘फिर तुम सुख-चैन से जीवन व्यतीत करना।’ कुंभकार बोला—‘मैं तो यहां सुख-चैन में ही हूं। आपके बताए अनुसार मैं जगह-जगह जाकर दुकानें लगाऊं, गाड़ी-बंगला खरीदूं, दस-बीस बरस तक आशा-तृष्णा का दामन थामकर घूमता रहूं और फिर सुख-चैन से जीवन बिताऊं, इसकी अपेक्षा तो यही अच्छा है कि मेरे पास अभी जो सुख-चैन है, वही निरंतर कायम रहे।’

हर व्यक्ति के सुख-चैन की एक सीमा होनी चाहिए। सीमा में प्राप्त सुखों से उसे संतोष का अनुभव करना चाहिए। कई बार लालसाओं के वशीभूत होकर व्यक्ति अप्राप्य को पाने के लिए उत्कट अभिलाषी हो जाता है। यही असीम लालसा व्यक्ति को भाग-दौड़ कराती है और उसके मन में असंतोष पैदा करती है।

रही मंजिल दूर

एक धनाढ्य व्यक्ति मृत्यु शय्या पर था। लोग उसकी कुशल-क्षेम पूछने आते रहते थे। एक दिन उसका एक पुराना मित्र उससे मिलने आया और बोला—‘मित्र! तुम बहुत भाग्यशाली हो। प्रारंभ में तुमने एक छोटा-सा व्यापार प्रारंभ किया था और आज तुम एक सौ करोड़ डॉलर के मालिक हो। तुमने संपदा का भंडार भरकर नाम भी कमाया और जीवन

भी सफल बनाया।' मित्र की बातें सुनकर धनाढ्य व्यक्ति रो पड़ा। उसने अपने मित्र को कहा—'दोस्त! मैं जो करना चाहता था, वह नहीं कर सका। मेरी मंजिल मुझसे काफी दूर रह गई।' मित्र को बड़ा आश्चर्य हुआ। सातों सुख उसके दोस्त के पास हैं, अब कौन-सी मंजिल शेष रह गई। दोस्त ने पूछा—'आखिर तुम कौन-सा काम अधूरा छोड़कर जा रहे हो?' धनाढ्य व्यक्ति ने कहा—'मेरी इच्छा एक हजार करोड़ डॉलर कमाने की थी, वह इच्छा पूरी नहीं हो सकी।'

इच्छाएं अनंत हैं। अगर इनकी पूर्ति हो भी जाए तो भीतर की लालसा अनंत को भी और अधिक विस्तार दे देती है। लालसा व्यक्ति को भगाती है, कभी चैन से जीने ही नहीं देती। जिसे संतोष नहीं है, उसे शांति भी नहीं है। आशा-तृष्णा एवं लालसा के संदर्भ में संत कबीर ने लिखा है—

**माया मुई न मन मुआ, मुई-मुई गया शरीर।
आशा तृष्णा ना मुई, यों कह गया कबीर॥**

किसी व्यक्ति के पास भरपूर आर्थिक संपदा है, पर उसकी तृष्णा नहीं मिटती है तो वह व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता। आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होकर भी वह सुख-चैन और संतोष की दृष्टि से निर्धन है।

एक साधु अपनी कुटिया के सामने कुश के आसन पर बैठा था। उसकी कुटिया के अंदर घास का बिछौना तथा पानी पीने के लिए एक कमंडलु था। उपदेश सुननेवाले सुबह-सुबह संत के भोजन के लिए अपने साथ कुछ ले आते। संत राग-द्वेष पर विजय पाने का प्रयास करता था। न उसे घर-परिवार की चिंता, न व्यापार की चिंता, न साधनों की चिंता और न धन की सुरक्षा की चिंता। संत के चेहरे पर प्रायः मुस्कान रहती थी। उसे वह सुख प्राप्त हो रहा था, जिसके आगे दुनिया के सारे भौतिक सुख फीके लगते हैं। संतोष से उपजी शांति वस्तुतः सबसे बड़ा धन है। जो संतोष से जीता है, उसके पास कुछ हो या न हो, वह सबसे बड़ी संपदा का मालिक होता है। व्यक्ति को चाहिए कि वह लालसाओं को नियंत्रित करे और सुख से रहे।

वर्तमान समय में संतोष का जीवन कहां है? सुख-शांति पर मानो राख छा रही है। संतोषी बनने के लिए हम काफी उपदेश सुनते हैं, परंतु उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयास नहीं करते। आवश्यकता इस बात है कि हम उपदेश को जीवन में उतारे और अपना आत्म-विश्लेषण करें।

जरूरी है हिसाब

प्रायः हर दुकानदार अपनी दुकान या अपने प्रतिष्ठान पर जाता है। पूरे दिन काम करके शाम को दुकान मंगल करता है। दुकान मंगल करने के पहले वह हिसाब मिलाता है कि कितनी बिक्री हुई, कितना माल गया, किसका, कितना लेन-देन बाकी रहा और कितना काम आज नहीं हुआ, जो किया जा सकता था। रोजाना हिसाब मिलानेवाला व्यक्ति सफल होता है। हमारा जीवन भी व्यवसाय की तरह है, परंतु इसका हिसाब प्रायः कोई रखता नहीं है। वह प्रतिदिन यह नहीं सोचता कि जीवन में आज कितना सत्कर्म किया, किसके साथ दुर्व्यवहार किया, अगर उसकी ओर से सही व्यवहार में कोई कमी रह गई हो तो उसे कैसे पूरा करना चाहिए, इस प्रकार जीवन का हिसाब रखना नितांत जरूरी है। हर व्यक्ति को प्रतिदिन यह आत्मचिंतन करना चाहिए—

क्या किया क्या कर रहा हूं और क्या करणीय है।

कर सकूं फिर भी न करता यह सदा स्मरणीय है।।

आत्म चिंतन की यह विधा व्यक्ति को अंतर्मुखी बनाती है। अंतर्मुखी व्यक्ति भौतिक वस्तुओं के अभाव में कभी दुःखी नहीं होता, अशांत नहीं होता और संतोष के साथ जीवन व्यतीत करता है।

27. सफलता के स्वर्णिम सूत्र

जीवन एक संग्राम है। इसमें सुख है तो दुःख भी है, उत्साह है तो विषाद भी है। आशा जागती है तो निराशा भी घिरती है। प्रशंसा मिलती है तो निंदा के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। लाभ है तो हानि भी है। पुरुषार्थ है तो निष्क्रियता भी है। अनुकूलता है तो प्रतिकूलता भी है। जीवन इन द्वन्द्वों के बीच से चलता आया है, आगे भी चलता रहेगा। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति के लिए यह अपेक्षित है कि वह 'सत्यम्', 'शिवम्' और 'सुन्दरम्' की तलाश करे ताकि संसार-सागर में टिककर खड़ा रह सके और जीवन को सफल बना सके। समस्याओं के अजगर सिर उठाकर फुफकार भरते हुए आते रहेंगे, परंतु इंसान की सफलता इसमें है कि वह अजगर के फन पर खड़े होकर बांसुरी बजाए।

हर व्यक्ति अपने जीवन में सफल होना चाहता है। एक विद्यार्थी परीक्षा में सफल होना चाहता है। एक नेता राजनीति में सफल होना चाहता है। एक गृहिणी परिवार में सफल होना चाहती है। एक वैज्ञानिक अनुसंधान में सफल होना चाहता है। इसका सार यही है कि सफलता की कामना सभी रखते हैं। सफलता के लिए, सिर्फ प्रार्थना करने से काम नहीं चलता, ईश्वर के सामने सिर झुकाने से अभिलाषा पूरी नहीं होती, बल्कि कुछ करना पड़ता है, कुछ खपना पड़ता है, कुछ तपना पड़ता है। जीवन को सफल बनाने वाले कुछ स्वर्णिम सूत्र निम्नांकित हैं—

श्रमशीलता

मनुष्य एक इंसान है। बौद्धिक संपदा उसके मस्तिष्क में है। कर्मजा शक्ति उसके बाजुओं में है, फिर निराशा कैसी? उठो, जागो और

जीवन को बदलो। एक छोटी-सी चींटी को क्या किसी ने सोते हुए या आराम से बैठते हुए देखा है। उसका जीवन अथक परिश्रम का अप्रतिम उदाहरण है। हवा का एक झोंका भले ही उसे उठाकर दूर फेंक दें, परंतु वह कभी घबराती नहीं है और बड़े-से-बड़ा पहाड़ भी आसानी से पार कर जाती है।

महान वे होते हैं, जो श्रम के महत्त्व को समझते हैं। सफल वे होते हैं, जो पुरुषार्थ की पूजा करते हैं। अनुभवी वे होते हैं, जो परिश्रम के भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ को जानते हैं। श्रीकृष्ण वन-वन घूमकर गायों को चराते थे। वे बाद में जन-जन के श्रद्धेय बने। कबीरदास कपड़ा बुनते थे। रैदास जूते गांठते थे। वे भारत के महान संत बने। गांधीजी तकली कातते थे, फिर भी भारत के राष्ट्रपिता बने। रैमजे मैकडॉनाल्ड निर्धन श्रमिक थे, इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री बने। राजेन्द्रप्रसाद किसान थे, पर उन्होंने भारत के प्रथम राष्ट्रपति बनने का गौरव प्राप्त किया। मदनमोहन मालवीय एक अत्यंत साधारण परिवार के व्यक्ति थे। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। ये सभी श्रम की साधना में लगे रहे, विफलताओं से कभी घबराए नहीं, तभी देश और राष्ट्र के लिए कुछ कर सके।

वर्तमान युग के लोग कुछ नहीं करते, यह कथन यथार्थ नहीं है। मनुष्य ने बहुत विकास किया है। वह कहां से कहां पहुंच गया, पर कुछ लोगों की जीवन-शैली चिंतन का विषय बनती जा रही है। सुबह की धूप जब कमरे में पहुंच जाती है, तब नींद खुलती है। एक किलोमीटर की दूरी तय करने के लिए बाइक या कार की जरूरत रहती है। ऐसे व्यक्ति अपने जीवन में कोई महत्वपूर्ण काम कैसे कर पाएंगे? पुरुषार्थ के अभाव में मनुष्य निरंतर आलसी और पंगु बनते जा रहे हैं। भले ही उनका सारा काम मशीनें कर दें, भले ही सारा काम ऑनलाइन हो जाए, परंतु शारीरिक श्रम के अभाव में व्यक्ति अस्वस्थ और अविवेकी हो जाता है। इसीलिए यह चिंतन सत्य है कि श्रम ही जीवन है और श्रम ही जीवन की सफलता है।

जागरूकता

हर क्षण सजग रहकर वर्तमान में जीना जागरूकता है। अपने काम को निष्ठा से समय पर संपादित करने के लिए जागरूकता आवश्यक है। जागरूकता का अर्थ है—हर क्षण सचेत रहना, सोच-समझकर कदम बढ़ाना, फूक-फूक कर पांव रखना। सेना के नौजवान जब मोर्चे पर रहते हैं तो क्षण-क्षण सचेत रहते हैं। न जाने दुश्मन की गोली किस दिशा से आ जाए। जागरूक रहकर ही वे खुद की रक्षा कर पाते हैं। जागरूकता के आधार पर ही वे देश की रक्षा कर पाते हैं।

घर, परिवार, समाज, राष्ट्र या कोई भी क्षेत्र हो, हर जिम्मेदार व्यक्ति के लिए जागरूक रहना आवश्यक है। कभी-कभी तो एक व्यक्ति अपनी जागरूकता की कमी के कारण स्वयं तो दुःखी होता ही है, साथ-साथ वह पूरे परिवेश को भी दुःखी बना देता है।

पौराणिक कहानी के अनुसार एक कामधेनु स्वर्ग से किसी किसान के खेत में आती। वहां वह हरी घास चरती और उसके बदले में किसान को अपना दूध पिलाती। यह क्रम कई दिनों तक चलता रहा। एक दिन परिवार के एक सदस्य ने यह देख लिया। अपने घर जाकर सबको बता दिया। परिवार के लोग किसान पर नाराज हुए कि वह अकेला कामधेनु का दूध कैसे पी लेता है?

दूसरे दिन किसान ने यह बात कामधेनु को बताकर उसे अनुरोध किया कि वह परिवार के अन्य सदस्यों को भी दूध पिलाए। कामधेनु बोली—‘दूध क्या बड़ी बात है। तुम चाहो तो तुम्हें अपने परिवार के साथ स्वर्ग में भी ले जाऊं और वहां मैं सबका आतिथ्य करूं।’ किसान खुश हुआ। उसने यह खुशखबरी अपने परिवार वालों को सुना दी।

कामधेनु के निर्देशानुसार किसान ने कामधेनु की पूंछ पकड़ ली और शेष सदस्यों ने एक दूसरे के पैर पकड़ लिए। कामधेनु स्वर्ग की ओर चली तो उसके साथ-साथ किसान का पूरा परिवार आकाशविहारी हो गया।

मार्ग में एक व्यक्ति के मन में जिज्ञासा हुई कि वहां हमें खाने के लिए क्या मिलेगा? उसने किसान से पूछा तो वह बोला—स्वर्ग के लड्डू मिलेंगे। वहां लड्डू कितने बड़े होते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में किसान ने अपने दोनों हाथों से पकड़ी हुई पूंछ को छोड़कर लड्डू का आकार बताना चाहा। पूंछ छोड़ते ही किसान का पूरा परिवार धड़ाम से नीचे गिर गया। सावधानी हटी और दुर्घटना घटी। यदि किसान के मन में थोड़ी भी जागरूकता होती तो यह हादसा नहीं होता।

सकारात्मकता

जीवन में सदा सब कुछ अनुकूल ही हो, यह जरूरी नहीं। प्रतिकूल परिस्थिति में भी मन व्यथित न हो, इसका उपाय है—सकारात्मक सोच। एक लेखक ने बहुत सुन्दर लिखा है—

सफल जीवन के लिए रीढ़ की हड्डी का काम करने वाला तत्व है सकारात्मक सोच। असफलता को सफलता की एक सीढ़ी मानकर आगे बढ़ते रहना ही सकारात्मकता है, विधायकता है। जो लोग कुछ होना चाहते हैं, लक्ष्य को साधना चाहते हैं, उन्हें निराशा के कुहासे से कोसों दूर रहकर यही चिंतन करना चाहिए कि आज उनके सामने जो प्रतिकूलता है, वह एक दिन अवश्य बदलेगी। ऐसे आत्मविश्वास से विधायक दृष्टिकोण का विकास संभव है।

एक प्रसंग है चिड़िया और चूहिया का। दोनों में गहरी दोस्ती थी। अक्सर नदी के किनारे उनकी मुलाकात होती थी। एक दिन नदी में पानी आ गया। चूहिया पानी की तेज धार में बहने लगी। चिड़िया ने चोंच से उसकी पूंछ पकड़ी और बाहर निकाल लाई। पूछा—‘वहां क्या कर रही थी, यदि डूब जाती तो क्या होता?’ चूहिया बोली—‘बहिन! मैं तो गंगा-स्नान करने गई थी।’ दूसरी बार वह गोबर में फंस गई। चिड़िया ने उसे निकाला, मुस्कराते हुए चूहिया बोली—‘प्रिय सखी! तुम तो नाहक परेशान होती हो। मैं तो वहां मेंहदी लगाने गई थी।’ तीसरी बार वह बाड़ में फंस गई। पूछने

पर उत्तर दिया—‘मैं तो कान-नाक बिंधवाने गई थी। चौथी बार वह रेल की पटरी तक पहुंची। इतने में ट्रेन आ गई। चिड़िया ने सोचा—आज तो यह गई। उसने पूंछ पकड़ कर उसे पार किया और डांटते हुए कहा—‘क्या कर रही थी वहां?’ चुहिया ने सहजता से उत्तर दिया—‘बहन! कमर में बहुत दर्द रहता है, मैं तो कमर सीधी करने गई थी।’ वार्तालाप विनोदात्मक है किन्तु यदि ऐसा दृष्टिकोण विकसित हो जाए तो व्यक्ति प्रतिकूलता में भी अनुकूलता का अन्वेषण कर लेता है।

अपेक्षा है इन सूत्रों को अपनाने की, जिससे व्यक्ति समय के राजपथ पर सफलता के अमिट पदचिह्न अंकित करने में सक्षम हो।

28. सोच की खिड़कियां खोलें

उपाध्याय विनयविजयजी ने अपने आध्यात्मिक काव्य शांत-सुधारस-भावना की अशौच भावना में लिखा है—

भावय रे! वपुरिदमतिमलिनं, विनय! विबोधय मानसनलिनम्।
पावनमनुचिन्तय विभुमेकं, परममहोमयमुदितविवेकम्॥
केवलमलमयपुद्गलनिचये अशुचीकृतशुचिभोजनसिचये।
वपुषि विचिन्तय परमिह सारं शिवसाधनसामर्थ्यमुदारम्॥

हे आत्मन्! चिंतन कर। यह शरीर अति मलिन है, मन रूपी कमल को विकसित कर। परम तेजस्वी विवेकसंपन्न एक आत्मा का चिंतन कर। जो शरीर पवित्र वस्त्र और भोजन को भी अस्वच्छ बना देता है, ऐसे शरीर में परम सारभूत तत्त्व है साधना का उदार सामर्थ्य, तू उसका चिंतन कर।

कितना मूल्य शरीर का ?

मनुष्य अपने शरीर को देखे। शरीर रूप से बहुत सुंदर, मनोहारी और आकर्षक लगता है, क्योंकि उसे सजाया-संवारा जाता है। दिन के चौबीस घंटों में अधिकांश समय शरीर की सार-संभाल में ही व्यतीत होता है। प्रसाधन-सामग्री के उपयोग-प्रयोग का प्रचलन इसी शरीर के लिए हुआ है। जबकि वास्तविकता यह है कि शरीर बाहर से जितना सुंदर दिखाई देता है, भीतर उतनी ही मलिनता भरी पड़ी है, किंतु शरीर के प्रति होने वाले व्यामोह के कारण व्यक्ति को यथार्थ का दर्शन नहीं होता। सुगंधित, स्वादिष्ट व सारयुक्त पदार्थ अंततः निःसारत्व को प्राप्त हो जाते हैं, इसका प्रत्यक्षीकरण उसे नहीं हो सकता। उसकी चेतना बाह्य परिवेश में ही उलझ जाती है और व्यक्ति मन, इन्द्रियों तथा शरीर का वशवर्ती बना रहता है। पर इस शरीर का

वैशिष्ट्य भी है। कहा गया है—**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**—धर्मसाधना का प्रमुख साधन यह शरीर ही है। शिव-सुख को उपलब्ध करवाने का सामर्थ्य इस शरीर में ही है। चार गतियों—नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति में यह शक्ति केवल मनुष्य शरीर को ही प्राप्त है। नैरयिक जीव दुःखों के सागर में निमज्जित रहते हैं। तिर्यचों को शारीरिक बल उपलब्ध है, पर उनकी चेतना जागृत नहीं होती। इसलिए वे करणीय व अकरणीय की मीमांसा नहीं कर सकते। देवता ऐश्वर्यसपन्न होते हैं, किंतु वैभव-विकास के कारण भोग से त्याग की ओर उनका प्रस्थान नहीं हो सकता, यह क्षमता मात्र मनुष्य में ही है कि वह सर्वोच्च ज्ञान, दर्शन, शक्ति और आनंद को हस्तगत कर सकता है। देवता को भी मुक्ति प्राप्त करने के लिए इस मानव देह को ही धारण करना पड़ता है। कितना महत्व है इस शरीर का, पर मूल्यवत्ता तब साबित होगी जब इसका सही दृष्टि से समुचित उपयोग हो।

कालचक्र निरंतर गतिमान है। काल का पहिया कभी नीचे और कभी ऊपर जाता है। जैसे ही मनुष्य के भीतर भी कभी काम, कभी क्रोध, कभी घृणा और कभी प्रेम भाव की तरंगें पैदा होती हैं। विचारों में, भावनाओं में उतार-चढ़ाव आता रहता है। जब तक इन बदलती भाव-धाराओं का चक्र चलता रहेगा, व्यक्ति का संसार में परिभ्रमण होता रहेगा।

उन्मेष नहीं हो सकता

व्यक्ति के समक्ष एक समस्या है कि उसके मन में अच्छे भाव कम आते हैं और आते हैं तो भी कम समय के लिए आते हैं। जैसे पानी पर आई शैवाल हवा के झोंकों से ऊपर-नीचे हो जाती है, जैसे ही व्यक्ति की भावधारा बदलती रहती है।

अपेक्षा है स्थायी एवं प्रशस्त भावधारा के निर्माण की। अंधविश्वासों की परिक्रमा करनेवाला धर्म प्रशस्त भावों का जनक नहीं बन सकता। उससे उपासना-पक्ष ही प्रभावित हो सकता है, किंतु वह व्यक्ति के आचरण को उदात्त नहीं बना सकता। रूढ़िवादी धर्म आत्म-साधना या उत्क्रांति में साधन नहीं बन सकता। बैल की तरह आंखों पर अज्ञान की पट्टी बंधी

रहने के कारण मनुष्य रूढ़िवाद धर्म-पथ पर चक्कर काटता रहता है, किंतु उसे वास्तविक बोध नहीं मिल सकता, उससे कोई उन्मेष नहीं हो सकता, आत्मोत्कर्ष नहीं हो सकता, बल्कि कभी-कभी तो उससे व्यक्ति हास्यास्पद बन जाता है।

सूची देख कर आता हूं

एक मालिक को नौकर की जरूरत थी। काफी खोजबीन के बाद उसे एक नौकर मिला। प्रथम परिचय में ही उसने नौकर को सारा काम समझा दिया। नौकर चतुर था। थोड़े दिनों में ही वह वहां के वातावरण में घुल-मिल गया। बस उसकी एक ही कमी थी। स्मृति कमजोर होने के कारण वह भूल जाता कि इस समय उसे क्या करना है। कई बार अत्यावश्यक कार्य छूट जाता, जिससे सेठ को बड़ी परेशानी होती। फलतः उसे डांट भी सुननी पड़ती। इस कारण उसका मन उदास हो जाता। एक दिन उसने सेठजी को कहा—‘मेरी विस्मृति के कारण आपको नुकसान उठाना पड़ता है। आप कोई ऐसा उपाय सुझाएं ताकि मैं यथासमय अपना काम कर सकूं।’ सेठजी ने उसे सलाह दी कि पूरे दिन के कार्यक्रमों की एक सूची बना ली जाए। उसके मुताबिक काम करने से सुविधा रहेगी। सूची नौकर के हाथ में आ गई और वह अपना काम व्यवस्थित ढंग से करता रहा। एक दिन सेठजी के मन में गंगा-स्नान करने की इच्छा जागृत हुई। नौकर को साथ लेकर वह वहां पहुंचा और नदी में उतर गया। अचानक लहरें उछलने लगीं। सेठ ने बहुत कोशिश की, पर उसका संतुलन बिगड़ गया और वह डूबने लगा। उसने नौकर को आवाज दी—‘बचाओ, बचाओ।’ नौकर वहां बैठा था पर उसने कोई हरकत नहीं की।

सेठ ने पुनः आवाज दी। नौकर ने कहा—‘मालिक! मैं सूची देखकर आता हूं कि इसके बाद मुझे क्या करना है?’ वह सूची देखता रहा और इधर सेठ सदा-सर्वदा के लिए लहरों में विलीन हो गया। जिनकी सोच की खिड़कियां नहीं खुलतीं और जो केवल बंधी-बंधाई परंपरा के आधार पर ही चलते हैं वे न तो स्वयं का हित साध सकते हैं और न दूसरों का भला कर सकते हैं।

चांद पर घर

आज का युग वैज्ञानिक युग है। विज्ञान के विकास का आधार है अज्ञात की खोज और उसका प्रयोग। मनुष्य आज चांद पर घर बनाने की बात सोच रहा है। पर जब तक मनुष्य सही मायने में मनुष्य बनने का संकल्प नहीं लेगा तो इन वैज्ञानिक उपलब्धियों का फायदा क्या होगा? आज अनास्था का एक स्वर मुखरित हो रहा है कि नैतिकता से जीवन नहीं जीया जा सकता। यह मिथ्या दृष्टिकोण है। एक प्रकार का अंधेरा है। अंधेरे में सही मार्ग उपलब्ध नहीं होता। उसके लिए आस्था का दीप जलाना होगा। तभी आत्मशक्ति की ज्योति जलेगी और प्रकाश फैलेगा।

एक समय था जब भारत विश्व का गुरु कहलाता था। उसके पास पूरे विश्व का पथदर्शन करने की क्षमता थी। पर आज स्थिति बदल गई है।

वृत्त और वित्त

संस्कृत का एक सुंदर श्लोक है—

**वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥**

मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक अपने चरित्र की सुरक्षा करनी चाहिए। क्योंकि वित्त/धन आता और जाता रहता है। वित्त से व्यक्ति कभी निर्धन नहीं होता, पर जिसका चरित्र चला जाता है, उसका दारिद्र्य कोई नहीं मिटा सकता।

हमारे सामने दो शब्द हैं—वृत्त और वित्त। आज धन की खातिर अपने चरित्र को दांव पर लगाने में व्यक्ति संकोच की अनुभूति नहीं करता। उसके मन में जरा भी हिचक नहीं होती। येन-केन-प्रकारेण वह अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। फलतः नैतिक मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। आज अपेक्षा है नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्था दूर हो।

अणुव्रत इस दिशा में सक्रिय भूमिका निभा रहा है। अणुव्रत मानवीय जीवन की आचार संहिता है। वह जन-जन का धर्म है तथा चरित्र उन्नयन की पृष्ठभूमि है। व्यक्ति-सुधार की महनीय प्रक्रिया है। इक्कीसवीं शताब्दी में मानव के साथ अणुव्रत रहे तो अच्छे मनुष्यों की पौध तैयार होगी। यदि

समय रहते मनुष्य जागरूक नहीं बना तो वह अपनी भावी पीढ़ी को क्या सौंपेगा ? क्या वह भौतिकता, हिंसा, मारकाट और बलात्कार का दर्शन उसे सौंपना चाहता है ? यदि स्थिति ऐसी ही रही तो उसे इस संदर्भ में गहराई से सोचना होगा। पीछे मुड़कर देखना होगा। शरीर को सजाने की अपेक्षा आत्मा के पवित्रीकरण की प्रक्रिया से गुजरना होगा।

विनयविजयजी के काव्य का प्रतिपाद्य भी यही है। मोक्ष-साधना का सामर्थ्य, उदात्त आचरण की क्षमता अगर किसी में है तो मनुष्य में है। इसलिए यही वह सार तत्त्व है जिसके कारण जीवन टिका है, शरीर टिका है। असंयम से संयम और भोग से त्याग की ओर तथा अनैतिकता से नैतिकता की ओर प्रस्थान करना ही जीवन का ध्येय बने। उसी दिशा में मनुष्य के कदम आगे बढ़े, चिंतन को अध्यात्म का आधार मिले तो विकास की अनगिनत राहें प्रशस्त हो सकती हैं।

29. अपने मन के मालिक

आज हम जिस दुनिया में जी रहे हैं वह बहुत छोटी हो गई है। एक समय था, जब हम माता-पिता, चाचा-ताऊ, नाना-नानी आदि की गोद में सांस लेते थे। उस समय संसार बहुत बड़ा था। एक शहर से दूसरे शहर जाकर घर वापस आते थे तो प्रायः दो-चार दिन का समय लग जाता था। सौ-पचास कोस की दूरी का भी एक बड़ा संसार था। आज स्थितियां बदल गई हैं। एक ओर स्थिति यह है कि हमारे अड़ोस-पड़ोस में क्या हो रहा है, इसकी हमें जानकारी नहीं। दूसरी ओर प्रायः घरों में मोबाइल फोन, टेलीविजन, कम्प्यूटर और इंटरनेट हैं। चौबीस घंटे में कहां, क्या हो रहा है? उसकी जानकारी मिल जाती है, इस दृष्टि से दुनिया सिमट गई है, छोटी हो गई है। एक समय था जब घर आए मेहमान को कांसे या पीतल की थाली, गिलास और कटोरे में खाने-पीने का सामान परोसा जाता था तो वह समृद्धिसूचक घर का संकेत माना जाता था। अतिथि अपनी जात-बिरादरी में आतिथ्य करने वाले की प्रशंसा करता नहीं थकता था। एक समय था जब इच्छाएं सीमित थीं, संसाधन भी सीमित थे। पूरे गांव में एक रेडियो होता था। शाम के समय पूरा गांव एक जगह इकट्ठा होकर समाचार सुन लेता था। आज इच्छाओं की कोई सीमा नहीं है। पति की रुचि शेयर मार्केट में है, इसलिए उसके लिए अलग टी.वी. है। पत्नी की रुचि धारावाहिकों में है, उसके लिए अलग टी.वी. है। बच्चों की रुचि स्पोर्ट्स में है, उनके लिए अलग टी.वी. है। नौकर भी शाम तक काम करते-करते काफी थक जाता है, उसके लिए भी एक अलग टी.वी. है। आज हर व्यक्ति चाहता है कि उसके पास उसकी संपूर्ण इच्छाओं को पूरा करनेवाला एक व्यक्तिगत कम्प्लीट पैकेज हो। किसी संपन्न परिवार में यदि पांच-सात व्यक्ति हो तो

वहां सुविधावादी संसाधनों का एक शो-रूम ही तैयार हो जाता है। दुनिया को हम घर के आंगन के अंदर सिमटाए जा रहे हैं। एक कॉलेज गर्ल के पास तीस-चालीस जोड़ी सैंडल मिलना मामूली बात है। महिलाओं के पास चार-पांच सौ साड़ियां मिलना भी साधारण बात है। कुछ साड़ियां और सैंडल तो ऐसी होती हैं जो पहनने से पहले ही आउट डेटेड हो जाती हैं।

आखिर यह सब क्यों हो रहा है? हर नई चीज को देखकर उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है और मनुष्य उसका गुलाम हो जाता है। अंग्रेजों की दासता भारतीयों को स्वीकार नहीं थी। उन्होंने संघर्ष किया। आजादी के लिए कितना खून बहाया, परंतु आज लोग अपने मन के ही गुलाम हो गए हैं। मन उन्हें जिधर ले जाता है वे उधर ही चले जाते हैं। इस प्रकार जीवन में एक अप्रत्याशित बदलाव आया है। आज सारा खून-पसीना मन की दासता की धूनी में भस्मीभूत हो रहा है।

विशेष रूप से किशोरावस्था के लड़के-लड़कियां मानसिक रूप में असंयमित एवं कमजोर पड़ते जा रहे हैं। उनका किशोर मन इस उम्र में पूरा परिपक्व नहीं रहता है। प्रचार तंत्र उनके नाजुक मन को विचलित कर उन्हें इच्छाओं के वशीभूत कर देता है। किसी कम्पनी ने लाइफ टाइम की गारंटी दे दी, वह सामान घर में आज ही आ जाना चाहिए। किसी कम्पनी ने विश्व के दो सौ चैनल एक साथ अलोट कर दिए, बस वह टी.वी. आज ही घर में आ जाना चाहिए। मॉडल, फैशन और डिजाइन के साथ कदम से कदम मिलाकर आज की युवा पीढ़ी चलना चाहती है। इसका सारा भार उसके माता-पिता पर पड़ता जा रहा है, इसका वह अनुभव ही नहीं करती है।

युवा पीढ़ी की जुबान से अनेक फरमाइशें निकलती हैं। वे चुटकी बजाते ही पूरी हो जाए तो ठीक है, वर्ना मूड ऑफ हो जाता है। कुछ युवा तो गुस्से में घर से बाहर भी निकल जाते हैं। चादर कितनी लंबी है और उसकी नित नूतन फरमाइशों की खींचतान से अभिभावक के पैर चादर में रह पाएंगे या बाहर चले जाएंगे, इसकी परवाह आज की युवा पीढ़ी को नहीं है। मन का यह असंयम युवाओं के व्यक्तित्व को नहीं निखारता, अपितु उन्हें सिर्फ इच्छाओं के मुक्त गगन की सैर कराता है, जो सीमाहीन है,

अन्तहीन है। इच्छाओं की दासता युवा पीढ़ी को कमजोर बनाती जा रही है, शक्तिसंपन्नता से दूर करती जा रही है और एक तरह से उसकी मानसिकता संयम की सीमा रेखा के नियन्त्रण को लांघती जा रही है।

आज का युवा वर्ग कल्पना के लोक में अधिक विचरण कर रहा है, सुविधावाद के जुगनू उसका मार्गदर्शन कर रहे हैं। इच्छाओं का चंचल अश्व उन्हें अप्राप्य की सैर करा रहा है। जबकि यह उम्र उच्चस्तरीय शिक्षा पाने और सही पुरुषार्थ के द्वारा जीवन को चमकाने की है, किन्तु इस दिशा में प्रयास कम हो रहा है और भावनाओं के महासागर की गहराई में उतरने को मन ललचा रहा है। मन की दासता स्वीकार करते ही मन व्यक्ति पर हावी हो जाता है। ऐसी स्थिति में जिस उद्देश्य के लिए जीवन को आगे बढ़ाना चाहिए वह उद्देश्य उसकी पहुंच से बहुत दूर चला जाता है। एक लोकोक्ति प्रचलित है—**मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।** मन की लगाम अपने हाथ में होती है तो निरर्थक एवं निरुद्देश्य भटकाव से बचा जा सकता है। इस दृष्टि से आवश्यक है कि मन की दासता स्वीकार न करे, मन को अपना दास बनाएं। यथार्थ के धरातल पर पांव जमाकर खड़े हों, औचित्य-अनौचित्य का निर्धारण करें, जीवन को सुविधापूर्ण, भोगी न बनाकर श्रम की बूंदों से उसे सींचें। वातावरण और परिस्थिति का कोई भी झोंका उसे हिला नहीं सकता जो प्रतिस्रोत में चलने का साहस रखता है। कवि की भाषा में—

लीक लीक गाड़ी चलै, लीकहिं चलै कपूत।

लीक छोड़ तीनों चले, शायर, सिंह, सपूत।।

वही व्यक्ति अपने मन का मालिक बन सकता है जो असीम इच्छाओं पर नियंत्रण करता है। यह तभी संभव है जब व्यक्ति मनोबली हो। यदि व्यक्ति पढ़ाई करते-करते, घर का काम करते-करते या अन्य कार्य करते-करते थक भी जाए तो उसका हौसले वाला मन पुनः उसको शक्ति देकर खड़ा कर देता है। यही मनोबल व्यक्ति को जीवन भर जुझारू बनाए रख सकता है और किसी भी विपरीत परिस्थिति में जीवन को सफल बनाता है। गांधीजी को कौन नहीं जानता! एक दुबले-पतले शरीर में भी कितना

मनोबल था। अहिंसा के पुजारी ने बिना किसी हथियार के मजबूत जीवन का परिचय दिया। शस्त्रों से लैस अंग्रेजों का मुकाबला किया और अपने अभियान में सफलता प्राप्त की। अर्जुन वीर धनुर्धर एवं उद्भट योद्धा था। युद्ध के मैदान में अपने ही बन्धु-बान्धवों को प्रतिपक्ष में खड़ा देखकर वह मोहग्रस्त हो गया। उसके हाथों में कंपन होने लगा। अर्जुन अकेला नहीं था। उसके साथ उसके रथ के सारथी के रूप में श्रीकृष्ण थे। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को संभाला और कहा—**माम् अनुस्मर, युद्धस्व च** अर्जुन! तुम भावना में मत बहो, शक्ति स्वरूप धर्मयुद्ध में उतरो। अर्जुन का सुप्त मनोबल जागा और उसने महाभारत के युद्ध में विजय पताका फहराई। नेपोलियन बोनापार्ट का मनोबल भी विश्व इतिहास की एक अनोखी दास्तान है।

एक दार्शनिक ने लिखा है—‘मानव जीवन की ऊर्जा है इच्छाशक्ति अथवा मनोबल।’ जिसका मनोबल मजबूत होता है उसे मानव क्या, प्रकृति का भी सहयोग मिलता है। मनोबल के साथ शक्ति संपन्नता का दूसरा तत्व है शरीरबल। इस बल से काफी अंशों में सफल जीवन का दायित्व पूरा हो जाता है। तीसरे तत्व के रूप में भावनात्मक बल को भी सफलता में सहयोगी माना जा सकता है।

आवश्यकता है कि देश की युवा पीढ़ी शक्ति संपन्नता के लिए तीनों प्रकार के बलों की साधना करे। धर्म का यही सन्देश है कि मनुष्य मन की दासता को कतई स्वीकार न करे बल्कि मन को अपना दास बनाए। शक्ति संपन्नता की दिशा में नियमित रूप से आगे बढ़ने का अभ्यास निरंतर जारी रहे, ऐसा करने से एक दिन ऐसा आएगा जब आप यह कह सकेंगे कि जमाना हमसे है, हम जमाने से नहीं।

30. सुखी जीवन के सूत्र

जीवन के साथ सुख को जोड़ने से पहले यह समझना आवश्यक है कि जीवन है क्या? जीवन के बारे में अनेक प्रकार की धारणाएं प्रचलित हैं। जन्म और मृत्यु के बीच की धारा का नाम जीवन है, यह एक अभिमत है। इस अभिमत के साथ विप्रतिपत्ति जैसा कुछ भी नहीं है। विप्रतिपत्ति वहां होती है, जहां कुछ लोग पांच भूतों के समवाय मात्र को जीव, चेतना या जीवन मानकर चलते हैं। इस मान्यता के अनुसार जो प्रत्यक्ष है, वही यथार्थ है। इस जन्म से पहले कुछ था, इसका विश्वास नहीं है। मृत्यु के बाद कुछ होगा, इसमें भी विश्वास नहीं है। यदि पहले कुछ नहीं था और बाद में कुछ नहीं होगा तो व्यक्ति का कर्म उच्छृंखल हो जाएगा।

जिस मनुष्य की यह आस्था है कि वर्तमान में जो कुछ है, वह अतीत का परिपाक है, वर्तमान में जो कुछ किया जा रहा है, वह भविष्य का आधार बनेगा, उसकी दृष्टि में जीवन भूतों का समवाय मात्र नहीं है। जीवन है शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, चित्त और चेतना की युति। जीवन प्रत्येक प्राणी को मिलता है। जिन प्राणियों की चेतना विकसित नहीं होती, वे जीवन को संवारने के लिए विशेष पुरुषार्थ नहीं कर पाते। मनुष्य विकसित चेतना वाला प्राणी है। उसके पास चिंतन है और चिंतन को क्रियान्वित करने की क्षमता है। इसलिए वह सोचता है और स्वस्थ एवं सुखी जीवन के उपायों की खोज भी करता है।

मनुष्य की श्रेणियां

मनुष्य को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक श्रेणी में वे लोग आते हैं, जिनके सामने जीवन का कोई लक्ष्य नहीं होता। उनका चिंतन इतना विकसित नहीं होता कि वे लक्ष्य का निर्धारण कर उस दिशा

में गति कर सकें। परंपरा या परिवेश उनको जिस ओर आगे बढ़ाता है, वे चलते रहते हैं। ऐसे लोग जीवन-यापन की कला से भी अनभिज्ञ होते हैं। वे पुरुषार्थ से अधिक भरोसा नियति में करते हैं। उनका जीवन समय के प्रवाह में बहता हुआ स्वाभाविक रूप से किनारे लग जाए तो ठीक, अन्यथा वे बहते रहते हैं।

दूसरी श्रेणी के लोग अपने जीवन में लक्ष्य का निर्धारण करके चलते हैं। सबका लक्ष्य एक ही नहीं होता। रुचि, वातावरण, क्षमता और प्रेरणा के आधार पर व्यक्ति लक्ष्य का चुनाव करता है। आध्यात्मिक व्यक्ति का लक्ष्य होता है पवित्रता। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह आत्मा के संपूर्ण विकास का लक्ष्य लेकर चलता है। ऐसे व्यक्ति का चरित्र उदात्त होता है। वह न तो किसी को धोखा दे सकता है और न सता सकता है। वह प्रत्येक प्राणी में अपने अस्तित्व का अनुभव करता है। वह मानता है कि जो प्राणधारा उसमें बह रही है, वही सब प्राणियों में है। वह सोचता है कि मुझे सुख प्रिय है, उसी तरह सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं। अपने सुख के लिए किसी को कष्ट पहुंचाना उसे अभीष्ट नहीं हो सकता।

सुख का सूत्र कहां है?

आध्यात्मिक जीवन बहुत ऊंचा जीवन है। सब लोग ऐसा जीवन नहीं जी सकते। जो लोग अध्यात्म को सर्वथा अस्वीकार कर देते हैं, वे नितान्त भौतिकवादी होते हैं। उनके सामने लक्ष्य होता है—खाओ, पीओ, मौज करो। वे लोग शरीर के स्तर पर जीते हैं। उनकी चेतना पर सघन आवरण रहता है। उन्हें वर्तमान का सुख प्रिय होता है। खाने में मधुर विषफल को वे बड़े चाव से खाते हैं। विषफल का भक्षण सीधा मौत को आमन्त्रण है, इस सिद्धान्त में उनका विश्वास नहीं होता। इसी कारण वे क्षणिक सुख की प्राप्ति में पूरे जीवन का रस निचोड़ देते हैं। उनको यह बोध नहीं होता कि शाश्वत सुख का सूत्र क्या है?

नीत्से ने सुख का आधार सत्ता को माना है। फ्रायड की दृष्टि में सुख का मूल काम है। मार्क्स का अभिमत है कि अर्थ के अभाव में सत्ता और काम—दोनों अकिंचित्कर हैं। सुख के सारे रहस्य अर्थ में छिपे रहते हैं। इस

संदर्भ में भगवान महावीर को प्रस्तुत किया जाए तो कहा जा सकता है कि सुख न सत्ता में है, न काम में है और न अर्थ में है। सुख है विजातीय तत्त्वों की निर्जरा में। सुख है अपने आप में होना। स्व के प्रति जागरूकता का जो क्षण है, सही अर्थ में वही सुख का क्षण है। शेष सारी कल्पनाएं हैं, भ्रम हैं, झूठे आश्वासन हैं और भटकाने वाले चौराहें हैं।

निश्चय एवं व्यवहार—दोनों नय के अनुसार सुख मनुष्य के लिए अभिलषणीय है। लक्ष्य के भेद से सुख का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। जिस सुख की प्राप्ति के बाद कभी दुःख की छाया ही न पड़े, ऐसा सुख बहुत बड़े पुरुषार्थ या तपस्या की अपेक्षा रखता है। उस ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख की प्रतीक्षा में मनुष्य हर क्षण दुःख ही भोगता रहे तो उसे कभी सुख नहीं मिल सकेगा। संपूर्ण सुख पाने के लिए टुकड़ों में मिलने वाले सुख को क्यों खोया जाए? जो लोग अपने जीवन के प्रति जागरूक रहते हैं, वे खण्ड-खण्ड में बिखरे हुए सुख को बटोरते हैं और अच्छा जीवन जीते हैं। व्यवहार के धरातल पर इन कतिपय सूत्रों को अपनाकर व्यक्ति प्रायः सुखी बन सकता है—

कोई बात नहीं

महान मनोवैज्ञानिक एलफ्रेड एडिलटेन ने लिखा है—‘सुख का रहस्य है हानि को लाभ में बदलना।’ जीवन-यात्रा के हर पड़ाव पर मनुष्य को जो सौगात मिलती है, उसमें लाभ भी होता है, हानि भी होती है। ऐसा व्यक्ति संभवतः कोई नहीं है, जिसे केवल सुख ही मिले अथवा केवल दुःख ही मिले। धूप और छाया की तरह सुख-दुःख एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। सुख में अतिरिक्त प्रसन्नता और दुःख में खिन्नता—यह सुख की सबसे बड़ी बाधा है। जो व्यक्ति दोनों स्थितियों में संतुलित रहना जानता है, कोई भी शक्ति उसके सुख को छीन नहीं सकती।

अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में संतुलन रखना सुखानुभूति का एक उपाय है। मनुष्य दुःखद परिस्थिति से जितना दुःखी नहीं होता, उतना दुःखी होता है दुःख को विचारों में प्रतिबिंबित करने से। दुःख को सुख में बदलने का एक छोटा-सा सूत्र है—‘कोई बात नहीं।’ किसी भी स्थिति में

कोई व्यक्ति इतना निरपेक्ष रह सके तो उसे किस बात का दुःख सताएगा। क्योंकि दुःख प्रतिकूल परिस्थिति से नहीं, उसके संवेदन से होता है।

यह भी बदल जाएगा

एक राजा ने अपने देश के विज्ञ, विचक्षण, प्राज्ञ और चिंतनशील व्यक्तियों को आमन्त्रित किया। हजारों व्यक्ति आए। उनमें से कुछ लोगों का चयन हुआ। राजा ने कहा—‘मुझे कोई ऐसी बात बताइए, जिसे मैं अपने शयनकक्ष में उत्कीर्ण करवाऊँ। सोते समय वह मेरी आंखों के सामने रहे। उठते समय सबसे पहली नजर वहीं टिके। वह बात ऐसी होनी चाहिए, जो मेरे मन को प्रभावित कर सके।’ विद्वानों ने चिन्तन कर एक वाक्य लिखा—‘यह भी बदल जाएगा।’ राजा ने अपने शयनकक्ष में वह वाक्य उत्कीर्ण करवा लिया। सुख के प्रसंग उसे अहंकार से बचाते रहे। क्योंकि उसके सामने परिवर्तन का आदर्श था। दुःख के प्रसंगों में वह व्यथित नहीं हुआ। क्योंकि वह समझ गया था कि दुःख स्थायी नहीं है। आज नहीं तो कल वह अवश्य दूर होगा।

राजा हो या रंक, संन्यासी हो या गृहस्थ, स्त्री हो या पुरुष, मालिक हो या मजदूर, गुरु हो या शिष्य, शिक्षक हो या विद्यार्थी—अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से सबका सामना होता है। परिस्थितियों के कारण दुःख होता तो महावीर को दुःख होता, बुद्ध को दुःख होता, गांधी को दुःख होता, हर एक व्यक्ति को दुःख होता, किंतु दुःख के सागर में रहकर भी कुछ लोग उससे प्रभावित नहीं होते। क्योंकि सुखी जीवन के सूत्र उनके पास हैं। वह सूत्र है—‘हानि को लाभ में बदलना।’ वह सूत्र है—‘कोई बात नहीं।’ वह सूत्र है—‘यह भी बदल जाएगा।’ इस प्रकार इन सूत्रों के आधार पर जीवन को सुखमय बनाने वाले व्यक्ति ही सच्चे धार्मिक हो सकते हैं तथा शाश्वत सुख की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं।

31. सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा

एक बार टर्की और ईरान के बीच भयंकर संघर्ष छिड़ गया। इस संघर्ष में ईरानी जीत रहे थे और तुर्क हारते जा रहे थे। एक के बाद एक गहरी हार खाकर तुर्की के सैनिक निराश और उत्तेजित होने लगे। संयोगवश एक सूफी सन्त उनके हाथ आ गया। अपनी हार का आक्रोश निकालने के लिए वे उस सन्त को यातना देने लगे।

उधर ईरानी लोगों को इस घटना का पता चला। वे लोग बहुमूल्य जवाहरात लेकर आए और शत्रु के अधीन संत को छुड़ाने के लिए प्रयत्न करने लगे। तुर्क उनसे सहमत नहीं हुए। ईरान की ओर से युद्ध समाप्ति की घोषणा की गई, पर तुर्क नहीं माने। यह जानकारी पाकर ईरान का शाह स्वयं युद्ध-स्थल में गया और अनुरोधपूर्ण स्वरों में बोला—‘आप लोग मुंहमांगा धन लेकर हमारे संत को मुक्त कर दो। हम अपनी संभावित विजय की लालसा छोड़कर युद्ध-विराम की बात करते हैं। इस युद्ध में हमने आपकी जितनी भूमि जीती है, उसे वापस लौटा देंगे, यदि आप हमारे संत को हमें लौटा दो।’ इतना सब कुछ होने पर भी जब तुर्कों की ओर से उचित आश्वासन नहीं मिला तो शाह बोला—‘आप हमारा पूरा साम्राज्य ले लीजिए पर संत को छोड़ दीजिए।’

शाह की यह विह्वलता देखकर एक तुर्की अधिकारी ने पूछा—‘एक व्यक्ति के लिए आप इतने अधीर क्यों हो रहे हो? क्या यह संत आपके साम्राज्य से भी अधिक मूल्यवान है?’

बादशाह गंभीर मुद्रा में बोला—‘साम्राज्य विनश्वर है, संपदा विनश्वर है और हम स्वयं विनश्वर हैं, पर संत सदा अविनाशी होते हैं। ये हमारी

शाश्वत निधि हैं। इनसे परंपरा प्रकाशित होती है, हम इन्हें खो देंगे तो ईरान के माथे पर कलंक का टीका लग जाएगा।’

टर्की का सैनिक अधिकारी शाह के इस उत्तर से अभिभूत हो गया। उस सूफी संत को अपनी अधीनता से मुक्त करते हुए वह बोला—‘जिस देश में संतों का इतना सम्मान है उसे कौन जीत सकता है।’

यह एक प्राचीन घटना है। शताब्दियों पूर्व घटित यह प्रसंग जन-जन को अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक परंपरा की सुरक्षा के लिए सतर्क रहने का संकेत देता है। किसी भी देश के विकास का आधार उसकी सांस्कृतिक परंपरा है। जिस देश की संस्कृति जितनी समुन्नत होती है, वह उतना ही प्रगतिशील होता है।

भारत अध्यात्म-प्रधान देश है। यहां की मिट्टी में अध्यात्म की सौरभ है। विदेशी लोग यहां अध्यात्म का प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। भारतीय लोक-मानस में संतों के प्रति श्रद्धा है। यह श्रद्धा-भावना उनके आध्यात्मिक जीवन के प्रति है। अध्यात्म का अर्थ है सुषुप्ति छोड़कर जागरण की दिशा में प्रवेश। जिन लोगों की चेतना सोई रहती है वे अपने करणीय के प्रति जागरूक नहीं हो सकते हैं। उनका चैतन्य जगाने के लिए प्रमाद, विलासिता और अज्ञान की परतों को दूर करने के लिए भारत के मनीषी, ऋषि-मुनियों का संपर्क अपेक्षित है, क्योंकि देश की संस्कृति इन्हीं के व्यवहारों से झांकती है। भारतीय संस्कृति के आदर्श लोकजीवन के व्यावहारिक धरातल पर उतरकर सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा सुरक्षित रखें, यह वर्तमान युग की सबसे बड़ी अपेक्षा है।

32. नीतिमान व्यक्तित्व की पहचान

कहा जाता है कि मनुष्य का जीवन अमूल्य है। अमूल्य जीवन में मूल्यों को जीना विसंगति-सी लगती है। लेकिन अनेकांत के आधार पर विसंगति में भी संगति देखी जा सकती है। जीवन अमूल्य तभी है जब व्यक्ति मूल्यों को जीता है। अगर वह मूल्यों को न समझे और न जीए तो जीवन का कोई मूल्य नहीं है।

जीवन के मूल्य दो प्रकार के होते हैं—सामयिक मूल्य और शाश्वतिक मूल्य। दूसरे शब्दों में—आध्यात्मिक मूल्य और व्यावहारिक मूल्य। ये सभी जीवन के मूल्य हैं, लेकिन जो भौतिक मूल्य या सामयिक मूल्य हैं, उनके आधार पर जीवन को उत्कृष्टता के शिखर तक नहीं ले जाया जा सकता। यह माना जा सकता है कि ये जीवन की कुछ आवश्यकताएं हैं। व्यक्ति अर्थ के बिना नहीं जी सकता और परिवार के बिना भी नहीं जी सकता, लेकिन इन मूल्यों से जीवन में कोई बदलाव आता है, रूपांतरण घटित होता है, ऐसी बात नहीं है, इसलिए हमारे सामने प्रश्न है कि कौन से ऐसे मूल्य हैं जिन्हें जीने से जीवन में सार्थकता का बोध हो सके।

यूं तो जीवन में इतने मूल्य हैं जिनकी गणना करें तो इन्हें संख्या में बांधना भी कठिन है, लेकिन कुछ मूल्य मौलिक हैं जो रोजमर्रा की जिंदगी में महत्व रखते हैं। पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में जिन मूल्यों को जीने से एक नया निखार आता है, नया परिवर्तन आता है, उन मूल्यों की चर्चा युगीन परिस्थितियों में आवश्यक है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने नीतिमान मनुष्य की गुणवत्ता का विश्लेषण करते हुए दस प्रकार के जीवन मूल्यों का उल्लेख किया है—

अभयं मृदुता सत्यमार्जवं करुणा धृतिः
अनासक्तिः स्वावलम्बः स्वशासनं सहिष्णुता॥
कर्तव्यनिष्ठा व्यक्तिगतसंग्रहसंयमः।
प्रामाणिकत्वं यस्मिन् स्युर्नीतिमानुच्यते नरः॥

अभय

जो व्यक्ति अभय रहता है, वह नीतिमान बन सकता है। अभय ऐसा मूल्य है जो व्यक्ति को साधना के क्षेत्र में, व्यवसाय के क्षेत्र में और व्यवहार के क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। प्रश्न है कि भय किसको होता है और अभय कौन बन सकता है? अर्हत् वंदना में कहा गया है—**सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अपमत्तस्स णत्थि भयं**—भय उसे होता है जो प्रमादी होता है। प्रमादी का अर्थ है—जो जागरूक नहीं होता, जीवन के प्रति सावधान नहीं रहता, जिसका शरीर और मन एकाग्र नहीं होता।

जहां प्रमाद है, वहां भय का समावेश सहज रूप से हो जाता है। इसके साथ-साथ बुद्धि जितनी प्रखर होती है, भय की वृत्ति भी उतनी ही बढ़ती जाती है। बौद्धिक व्यक्ति अनेक प्रकार की आशंकाओं से घिरा रहता है। अभय आता है प्रज्ञा के जागरण से। ज्ञान का अनुष्ठान और प्रशिक्षण प्रज्ञा के जागरण के लिए है। प्रज्ञा जिस दिन जाग जाएगी, उस दिन अभय अपने आप जीवन में उतर जाएगा। जो व्यक्ति अभय रहता है, उसे न चिंता होती है और न आशंका। वह सदा प्रसन्न और प्रफुल्ल रहता है।

अगर अभय होकर जीना है तो इसके लिए साधना करनी आवश्यक है। ध्यान के साथ अनुप्रेक्षा का अपना मूल्य है। जिस मूल्य को व्यक्ति अपने जीवन में लाना चाहता है उस मूल्य की अनुप्रेक्षा करे। एक माह या दो माह के अभ्यास से उसे अनुभव होने लगेगा कि वास्तव में ये संस्कार जागृत हो रहे हैं। ये मूल्य उसके जीवन में उतर रहे हैं।

मृदुता

मृदुता का अर्थ है कोमलता। व्यक्ति अपने प्रति भी कोमल हो तथा दूसरों के प्रति भी कोमल हो, यह जरूरी है। मृदुता के अभाव में व्यक्ति क्रूर

बन जाता है। आज जितनी समस्याएं हैं उनमें अनेक समस्याओं का संबंध क्रूरता से है, क्योंकि मनुष्य पशुओं और पक्षियों के प्रति भी क्रूर होता है। आज जिस प्रकार की प्रसाधन सामग्री का उपयोग होता है, मृदु व्यक्ति उस सामग्री का उपयोग नहीं कर सकता, जिसमें पशु-पक्षियों की नृशंस हत्या होती है। पत्र-पत्रिकाओं में संवाद प्रकाशित होते रहते हैं कि किस प्रकार नृशंसतापूर्वक पशु-पक्षियों की हत्या करके प्रसाधन सामग्री का निर्माण किया जाता है।

यदि मनुष्य के मन में करुणा हो, कोमलता हो तो भ्रूणहत्या जैसा जघन्य कार्य नहीं हो सकता। भ्रूणहत्या क्यों होती है? जिस व्यक्ति का आत्मा में विश्वास है, कर्म सिद्धांत में विश्वास है, वह भ्रूणहत्या की बात सोच ही नहीं सकता। अफसोस तो इस बात का है कि इन मूल्यों को समझा नहीं गया। जब तक मूल्यों का बोध नहीं होगा और समझ विकसित नहीं होगी। वे जीवन में कैसे उतरेंगे? कैसे मृदुता का भाव जागेगा और कैसे जीवन में बदलाव आएगा? सुख, शांति, और समृद्धि के लिए मन में करुणा का जागना बहुत जरूरी है।

तीसरा मूल्य है सत्य

भ्रष्टाचार की जितनी समस्याएं हैं उनकी पृष्ठभूमि से जुड़ा हुआ बिंदु है सत्य का अस्वीकार। व्यक्ति के मन में एक सत्य के प्रति आस्था हो जाए तो दूसरे मूल्य स्वयं आकर जुड़ जाते हैं। सत्य के प्रति आस्था है, इसका मतलब है लक्ष्य के प्रति आस्था, लक्ष्य-सिद्धि के साधनों के प्रति आस्था। सत्य के प्रति जिसका विश्वास नहीं होता वह लक्ष्य से प्रतिबद्ध नहीं रह सकता। जिसकी सत्य के प्रति आस्था है, वह व्यक्ति वचन देकर नहीं बदलता। वह दूसरे का अहित भी नहीं सोच सकता और जो कुछ उसने कहा है, उसके पालन में कहीं भी कमी होती है तो उसे वह स्वयं भी बर्दाश्त नहीं कर सकता।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि जो व्यक्ति सत्य की साधना कर लेता है उसे वचनसिद्धि का मंत्र मिल जाता है। बहुत बार ऐसा कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति जो बात कहता है उसकी बात प्रायः मिल जाती है। कोई

कहता है उसके बत्तीस दांत हैं इसलिए उसकी बात मिल जाती है। कुछ और भी तर्क देते हैं, लेकिन मूलभूत तथ्य यह है कि जो सत्यनिष्ठ और सत्यभाषी होते हैं, किसी भी परिस्थिति में असत्य का सहारा नहीं लेते, उनको निश्चित ही वचनसिद्धि का वरदान प्राप्त हो जाता है। यद्यपि सत्य की साधना कठिन है, किंतु यदि संकल्प दृढ़ है तो कोई भी साधना कठिन नहीं होती। सत्य साध्य तक पहुंचने का एक महत्वपूर्ण सोपान है।

आर्जव

जीवन में कोई छिपाव नहीं, कोई माया नहीं, कोई प्रपंच नहीं। बस, यही प्रभाव है सरलता का। व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि वह कोई भी प्रवृत्ति करता है या किसी के साथ कोई बात करता है, अगर उसके मन में यह आशंका पैदा हो कि कोई मेरी बात को सुन न ले या कोई मेरी क्रिया देख न ले, इस विकल्प के पैदा होने का अर्थ ही है कि व्यक्ति ऋजु नहीं है, सरल नहीं है। वह जो कुछ करना चाहता है, छिपकर करना चाहता है। जहां ऋजुता होती है वहां किसी भी प्रकार के छिपाव की जरूरत नहीं है। जो कुछ होता है वह साफ-साफ होता है।

करुणा

सामुदायिक जीवन में परिवार भी है और समाज भी है। यदि व्यक्ति के अंतःकरण में करुणा नहीं होती है तो सामूहिक जीवन में वह सफलतापूर्वक नहीं जी सकता। किसी भूखे-प्यासे व्यक्ति को धर्म मानकर रोटी-पानी देना ही करुणा नहीं है। करुणा का अर्थ है—अपने चित्त की आर्द्रता। जो दूसरे के सुख और दुःख को अपने में नियोजित करता है, वह व्यक्ति करुणाशील होता है। जो करुणाशील होता है वह अपने प्रति ही नहीं, सबके प्रति दयालु होता है। करुणा का अर्थ है अहिंसक। ऐसा व्यक्ति किसी को सता नहीं सकता। मारना तो बहुत दूर की बात है, वह किसी का दिल दुखाने की बात भी नहीं सोचता। अहंकार की चेतना करुणा को खंडित कर देती है। अहंकार और ममकार दोनों करुणा में बाधक बनते हैं। करुणा का विस्तृत क्षेत्र है—**वसुधैव कुटुम्बकम्**। विश्वात्मा के प्रति

तादात्म्य का भाव। जहां व्यक्ति का ममत्व इतना विस्तृत हो जाता है वहां स्वार्थ की चेतना अपने आप समाप्त हो जाती है।

धृति

जीवन की सफलता में इस मूल्य का बड़ा हाथ है। किसी भी बड़े व्यक्ति से पूछा जाए कि उसके जीवन की सफलता का क्या रहस्य है? वह और भी बहुत सारी बातें बता सकता है, पर धृति की बात अवश्य बताएगा। जिसमें धृति होगी, वही आगे बढ़ सकता है, वही सफलता के शिखर पर पहुंच सकता है। किसी व्यक्ति ने कोई काम शुरू किया, सफलता नहीं मिली तो निराश होकर उस काम को बीच में ही छोड़ दे, तो क्या कभी सफलता मिल सकेगी?

किसी व्यक्ति ने एक कुआं खोदना शुरू किया। चार हाथ गहरा खोदा, पानी नहीं निकला। उसे छोड़ फिर दूसरा कुआं खोदा पर पानी नहीं निकला, उसे भी छोड़ दिया। फिर तीसरा खोदा, उसे भी छोड़ दिया और फिर चौथा खोदा। इस तरह क्या कभी पानी निकल पाएगा? चार स्थानों में चार-चार हाथ के बजाय यदि व्यक्ति एक स्थान पर कुएं खोदने में समय एवं श्रम लगता तो निश्चित रूप से पानी निकलता, लेकिन यह तभी संभव है जब धृति हो। छलनी में पानी जमने तक का धैर्य हो।

साधना के क्षेत्र में व्यक्ति यह सोच ले कि अमुक व्यक्ति को इतनी सिद्धियां प्राप्त है। पर मुझे साधना करते-करते इतना समय हो गया है, फिर भी अब तक मुझे कुछ भी क्यों नहीं मिला? यह अधृति की स्थिति साधक को निराशा की अंधी सुरंग में ले जाकर छोड़ देती है।

गौतम स्वामी भगवान महावीर के प्रिय शिष्य थे, प्रथम गणधर थे। वे अपने शिष्यों के साथ भगवान के समवसरण में आए। उन्होंने जिन व्यक्तियों को दीक्षित किया, उनको केवलज्ञान उपलब्ध हो गया, पर गौतम स्वामी को केवलज्ञान नहीं हुआ। इस स्थिति से वे अधीर हो गए। वे सोचने लगे, मुझमें कहां कमी है? आज मैंने जिनको दीक्षित किया, वे केवली बन गए और मैं अभी किनारे पर ही बैठा हूं। उनके धैर्य का बांध टूट गया।

भगवान तो सर्वज्ञ थे। उन्होंने गौतम की मनः स्थिति को पढ़ा। उनकी अधीरता को दूर करने के लिए उन्हें संबोधित करते हुए कहा—‘गौतम! अधीर मत बनो। तुम्हारे केवलज्ञान में एक ही बाधा है, वह है मेरे साथ तुम्हारा यह परिचय, यह लगाव और यह आसक्ति। यह इस एक जन्म की बात नहीं, बहुत पुरानी है। यही लगाव केवलज्ञान की उपलब्धि में बाधक है लेकिन तुम चिंता मत करो। एक दिन ऐसा आएगा, यह बाधा टूटेगी और तुम भी मेरे जैसे हो जाओगे। केवलज्ञान को प्राप्त कर लोगे।’ गौतम के धैर्य का बांध टूटते-टूटते बच गया।

यह स्वाभाविक है जीवन में प्रतिकूल परिस्थिति के आने पर कोई भी व्यक्ति अधीर हो सकता है। लेकिन धैर्य को छोड़ना सफलता से वंचित रहना है। कठिन परिस्थिति में भी, धृति को अविचल रखना बड़ी बात है। इसलिए यह माना जाता है कि धृति सफलता का सबसे बड़ा कारक तत्व है।

अनासक्ति

व्यक्ति खाता है, पीता है, पहनता है और काम करता है। एक व्यक्ति यह सब कुछ करता हुआ उसमें आसक्ति रहता है और एक व्यक्ति करता सब कुछ है पर आवश्यकता समझ कर। दोनों में कितना फर्क है। व्यक्ति भोजन करता है, सिर्फ जीवन की आवश्यकता समझकर। भूख लगती है तो उदरपूर्ति आवश्यक है। अगर भोजन नहीं मिलेगा तो शरीर दुर्बल हो जाएगा। शरीर की दुर्बलता में न ज्ञान होगा, न ध्यान और न सत्कर्म। इस भावना से भोजन करने वालों के सामने कैसी भी स्थिति आए, वह कोई प्रतिक्रिया नहीं करेगा।

आसक्ति से भोजन करने वाला भोजन करने बैठते ही प्रतिक्रिया शुरू कर देगा। जैसे—नमक कम है, इसमें मिर्च ज्यादा है, यह अच्छा नहीं बना। इस प्रकार अनेक प्रकार की अनेक बातें उभर कर सामने आती रहेंगी।

यही बात वस्त्रों की है। कपड़े पहनना है गर्मी निवारण के लिए, शीत निवारण के लिए और लज्जा निवारण के लिए। मात्र इतना उद्देश्य है तब तक तो ठीक है, पर यदि व्यक्ति इस उद्देश्य को छोड़कर आगे बढ़े तो अनेक

प्रकार की बातें उसके सामने रहेंगी। आधुनिकता के नाम पर व्यक्ति यहां तक सोच लेता है कि बाजार में नई फैशन आए, दूसरे उसे काम में लें, उससे पहले मैं ले लूं, तभी मेरा वैशिष्ट्य रहेगा।

एक छोटा सा व्यंग्य है। एक युवक हाथ में एक पैकेट लिए तेजी से भागा जा रहा था। चौराहे पर पुलिस मेन खड़ा था। उसने उसे रोका और पूछा—‘कहां भागे जा रहे हो? हाथ में क्या ले रखा है? क्या चुराकर लाए हो?’ युवक ने कहा—‘चुराकर कुछ भी नहीं लाया। मैं तो दर्जी से अपने कपड़े सिलाकर लाया हूं।’

पुलिस वाले ने कहा—‘तो फिर इतनी तेजी से क्यों भागे जा रहे हो?’ युवक ने उत्तर दिया—‘मेरे पहनने से पहले इस प्रकार की ड्रेस पहनकर कोई भी बाजार में न आ जाए, इसलिए मैं भाग रहा हूं।’ मतलब क्या? मात्र प्रदर्शन। यह फैशन की आसक्ति है, प्रदर्शन की आसक्ति है। इस प्रकार की आसक्ति चेतना वाले लोग फैशन की दौड़ में भाग सकते हैं, पर जीवन को नहीं समझ सकते। जीवन में अनासक्ति का भी अपना मूल्य है। देर-सबेर भी यह चेतना जागे तो कल्याण का पथ-प्रशस्त हो सकता है।

स्वावलंबन

हर व्यक्ति एक सीमा तक परावलंबी रहता है। जब तक व्यक्ति उच्च स्थिति तक नहीं पहुंच जाता, तब तक उसे दूसरों का सहारा लेना पड़ता है। बच्चे को सहारा चाहिए, युवक को सहारा चाहिए तो वृद्ध को भी सहारा चाहिए। सहारा सबको चाहिए। लेकिन यहां संदर्भ इस सहारे का नहीं है। मूल मनोवृत्ति यह है कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपना पूरा जीवन दूसरों के सहारे जीना चाहते हैं। वे न अपने बारे में कुछ सोचते हैं और न कुछ करते हैं। जैसा दूसरा कराते हैं, कर लेते हैं। दूसरा सहारा देते हैं तो जीते हैं अन्यथा मन में निराशा पैदा हो जाती है, स्वाभिमान खो जाता है। ऐसे व्यक्ति स्वावलंबी जीवन जीने की बात सोच ही नहीं सकते।

महिला जगत की यह समस्या है। स्वावलंबन की बात बहुत अर्थों में उनके जीवन में नहीं है। कुछ तो सामाजिक परिस्थितियां ऐसी हैं और

कुछ प्रारंभ से ही उन्हें ऐसे संस्कार दिए जाते हैं कि स्त्री पुरुष एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। पुरुष भी अकेला अधूरा है और स्त्री भी अकेली अधूरी है, लेकिन जहां स्वावलंबन का सवाल है वहां पुरुष यह नहीं सोचता कि मैं किसी के सहारे जीता हूं, जबकि हर स्त्री ऐसा सोचती है कि वह पुरुष के सहारे जी रही है। स्त्रियों में जो आर्थिक स्वावलंबन की कमी है, इस कारण उनका शोषण भी बहुत होता है। जहां-जहां महिलाएं आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनी हैं, उनकी स्थिति में सुधार भी हुआ है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि महिलाएं अपने घर के दायित्व को छोड़कर व्यवसाय के क्षेत्र में प्रवेश करें, लेकिन मूल बात यह है कि जब तक उन्हें सब दृष्टि से स्वावलंबी होकर जीने का मौका नहीं मिलेगा तब तक उनके व्यक्तित्व में निखार नहीं आएगा और जब तक महिलाओं का स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं बनेगा तब तक वे अपने बच्चों को भी सुसंस्कारी नहीं बना सकेंगी तथा उनके मन की हीन भावनाएं बच्चों में अनायास ही सक्रांत हो जाएगी। इसलिए आवश्यकता है कि हर पुरुष और हर स्त्री में स्वावलंबन की चेतना जागृत हो। सिर्फ आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, हर दृष्टि से वे स्वावलंबी बनें।

एक व्यक्ति बहुत संपन्न हो गया। वह सोचता है कि मैं अपना काम स्वयं कैसे करूं? पानी पीना है तो कोई दूसरा आकर पिलाए तभी पीया जाए, उठकर पानी नहीं पी सकता। कोई काम करना हो तो दूसरा कोई नौकर सामने हो तभी काम कर सकता हूं। ये बातें आज के युग में कोई महत्व नहीं रखती। ये बहुत छोटी बातें हैं। हाथ से काम करने वाला कभी छोटा होता ही नहीं है। गांधीजी का जीवन हमारे सामने है। गांधीजी राष्ट्र के लिए आदर्श पुरुष थे। वे अपना हर कार्य अपने हाथ से करना चाहते थे। वह आदर्श आज हमारे देश के प्रत्येक नागरिक के जीवन में उतरना चाहिए। आवश्यकतावश किसी का सहारा लिया जा सकता है, लेकिन हर समय दूसरे के सहारे के लिए ताकते रहना ठीक नहीं है।

जो व्यक्ति अपने हाथों से काम नहीं करता वह अपना स्वत्व, अपना स्वावलंबन खो देता है। अगर किसी व्यक्ति को ऊंचाई पर आरोहण

करना है तो उसे यह समझना ही होगा कि जीवन में स्वावलंबन का विकास बहुत आवश्यक है।

आत्मानुशासन

आत्मसंयम श्रेष्ठ जीवन का पहला सोपान है। अगर मनुष्य को अपना लक्ष्य पाना है तो पहला कदम आत्मसंयम की सीढ़ी पर रखना होगा। अगर संयम नहीं है तो जीवन में दूसरी श्रेष्ठताओं का विकास भी नहीं हो सकता। हमारे धर्मसंघ में तो अनुशासन के साथ आत्मानुशासन को अतिरिक्त बल दिया गया है। वही व्यक्ति अनुशासन करने का अधिकारी है जो आत्मानुशासन को विकसित कर लेता है तथा जो स्वयं पर अनुशासन कर लेता है।

एक युवक किसी संत के पास गया और बोला—‘महात्माजी! मुझे ऐसा मंत्र बताएं कि पूरा गांव वश में हो जाए।’ संत ने पूछा—‘तुम्हारा परिवार तो तुम्हारे वश में है क्या?’ नकारात्मक उत्तर आने पर संत बोले—‘क्या अपनी पत्नी पर तुम्हारा अनुशासन है? अपने आप पर अनुशासन है?’ सब प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक रहा। संत ने कहा—‘पहले स्वयं पर अनुशासन करो। फिर दूसरों को वश में करने की बात सोचना अथवा स्वयं पर अनुशासन होते ही दूसरे अनुशासित हो जाएंगे।’ आचार्यश्री तुलसी ने एक महान सूत्र दिया है—‘निज पर शासन फिर अनुशासन।’

सहिष्णुता

असहिष्णुता आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है। सहिष्णुता का अर्थ है—सहन करना। सदी-गर्मी, भूख-प्यास को सहना, कठोर वचनों को सहना, प्रतिकूल और अनुकूल परिस्थितियों को भी सहना। किसी ने बहुत प्रशंसा कर दी और व्यक्ति फूल कर कुप्पा हो जाए। किसी ने निंदा कर दी, व्यक्ति उदास हो जाए। यह सहिष्णुता नहीं है। सहिष्णुता यानी दोनों स्थितियों में संतुलित रहना। जो भी स्थिति सामने आए उसे सहन करना। वांछित-अवांछित, प्रिय-अप्रिय में मनोवृत्ति सम रहे, संतुलन न टूटे। समभाव से हर बात को सहन किया जाए। यह सफलता के लिए

बहुत आवश्यक है। जो लोग सहन करना सीख लेते हैं, वे वास्तव में जीना सीख लेते हैं।

कबीर के पास एक युवक आया। उसने पूछा कि मुझे कैसा जीवन जीना चाहिए? मैं अपने जीवन को शांति/आनंद से कैसे गुजार सकता हूँ? परिवार में सामंजस्यपूर्ण जीवन कैसे जी सकता हूँ? कबीर ने कहा—'यदि तुम आनंद का जीवन जीना चाहते हो तो एक-दूसरे को सहन करना सीखो। एक-दूसरे की भूलों को सहन करना सीखो।' इससे जीवन में समरसता बढ़ती जाती है। यदि सहन नहीं होगा तो दूरी बढ़ेगी, तनाव बढ़ेगा और शांति भंग होती रहेगी।

प्रामाणिकता

प्रामाणिकता/ईमानदारी एक ऐसा मूल्य है जो व्यक्ति को भरोसेमंद बनाता है। नैतिक बनना है तो उसकी पहली शर्त है प्रामाणिकता। जो व्यक्ति विलासी होता है, आय से अधिक व्यय करता है और अपनी कृत्रिम अपेक्षाओं को बढ़ाता रहता है, वह नैतिक कैसे बन पाएगा? उसके जीवन में प्रामाणिकता कैसे उतरेगी? नैतिक मूल्यों का क्षरण इस युग की बहुत बड़ी त्रासदी है। नैतिकता का हास हो रहा है, यह चिंता का विषय है। इसमें भी अधिक चिंता इस बात की है कि नैतिकता के प्रति विश्वास कम होता जा रहा है। आचार्यश्री तुलसी ने इसी समस्या के समाधान हेतु अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत के छोटे-छोटे नियमों से आस्था का निर्माण हो जाए तो व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय चरित्र उदात्त हो सकता है।

सफल जीवन जीने के लिए उपर्युक्त मूल्यों को जीना जरूरी है। जो लोग इनके प्रति जागरूक रहते हैं, जीवन के साथ इन्हें जोड़ते हैं, व्यवहार में इनका प्रयोग करते हैं, वे निश्चित रूप से सफल जीवन जी सकते हैं। इसमें कोई आरेक नहीं है।

33. मूल्य सह-अस्तित्व का

सह-अस्तित्व का सामान्य अर्थ है—साथ-साथ रहना। पारस्परिक विषमताओं, विभिन्नताओं, विविधताओं के होते हुए भी साथ-साथ, सहचर की तरह रहना सह-अस्तित्व है। न द्वेष की भावना जगे, न संघर्ष की आग लगे, स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा की भावना हो, एक-दूसरे का मूल्य स्वीकार करने की कामना हो—यही सह-अस्तित्व का मूल दर्शन है।

अलग-अलग व्यक्तियों का अलग-अलग चिंतन होता है, सबके अलग अरमान होते हैं, सबके अलग लक्ष्य होते हैं, सबके अलग स्वार्थ होते हैं, सबकी अलग समस्याएं होती हैं, सबकी अलग नियति होती है, सबका अलग व्यवहार होता है, सबकी अलग शैली होती है, सबका अलग समाधान होता है। विविधताओं का यह अर्थ कदापि नहीं कि आपस में संघर्ष हो। सह-अस्तित्व का झीना आवरण तो सिर्फ आपसी पारस्परिक सौहार्द, पारस्परिक शांति और पारस्परिक संतुलन की मांग करता है। एक ही उपवन में तरह-तरह के पेड़-पौधे उगते हैं, रंग-बिरंगे फूल खिलते हैं, सभी को जमीन पर विकास का समान अधिकार प्राप्त होता है। ठीक इसी प्रकार परिवार अथवा समाज के धरातल पर विविध विचार, आचार, शैली व रंग-ढंग के लोग जुटते हैं, सभी को अपना-अपना विकास करने का समान अधिकार है। चूंकि हम मानव हैं, संस्कार हमारी धरोहर है अतः परस्पर प्रेम और मैत्री से रहना एवं एक-दूसरे का सहयोग करना हमारा कर्तव्य होता है। यदि हम इतना निभा पाते हैं तो हम हर दृष्टि से सह-अस्तित्व की भावना को पुष्ट करते हैं।

एक प्रसिद्ध दार्शनिक ने 'सह-अस्तित्व' के मूल्य को महत्त्व देते हुए लिखा है—मानव सभ्यता के क्षेत्र में हजारों-विचारों के फूलों को साथ-साथ

पनपने दो। यही हमारी शक्ति होगी, यही हमारा संगठन होगा और इसी सह-अस्तित्व के धरातल पर हमारा अस्तित्व कायम होगा।

हम जापान का पुराना इतिहास देखें, जापान में एक परंपरा थी कि परिवार का कोई सदस्य उम्र की एक निश्चित सीमा को पार करके बूढ़ा हो जाता था तो इसके बाद उसे जंगल में छोड़ दिया जाता था। उस समय जापान में यह मान्यता थी कि बूढ़े हो जाने के बाद, शरीर की शक्ति क्षीण हो जाने के बाद व्यक्ति कोई काम नहीं कर सकता, राष्ट्र के विकास-कार्यों में उसका कोई योगदान नहीं रहता।

जापान के एक परिवार में एक व्यक्ति बूढ़ा हुआ। राष्ट्र के कानून के अनुसार उसे अब जंगल में छोड़ दिया जाएगा। राष्ट्रीय कानून का अनुसरण करते हुए युवा पुत्र अपने वृद्ध पिता को जंगल तक छोड़ने गया। शहर की सीमा पार हो गई, खंडहर आए, विरान-सुनसान जगह आई, फिर घना जंगल आया। युवा पुत्र जंगल में भी काफी दूर तक पिता के साथ गया। अलविदा का समय आया। युवा-पुत्र ने पैर छुए। पिता ने पुत्र को कहा—‘तुम मेरे साथ अनजानी जगहों को पार करके बहुत दूर तक आए हो। वापस जाते समय तुम्हें कठिनाई हो सकती है। मैंने आते समय रास्ते में जगह-जगह चूने की लकीर का निशान बनाया है। तुम जाते समय चूने के निशान को देखते हुए आगे बढ़ना। राह नहीं भूलोगे, आसानी से घर पहुंच जाओगे।’

पिता की बात सुनते ही युवा पुत्र के मन में एक विचार कौंधा—‘मैं जवान हूं, शक्तिशाली हूं, दूर तक आराम से पैदल चल सकता हूं, पिता वृद्ध हैं, शरीर में शक्ति नहीं है, लेकिन मेरी उन्हें कितनी चिंता है? इस चिंता का उपाय उन्होंने पहले ही ढूंढ लिया और मुझे अलविदा के समय बताया। इनका दिमाग तो किसी युवा से भी अधिक तेज है। वैसे भी यदि भावनात्मक रूप से देखें तो वृद्ध और असहाय पिता को सहारा देने की बजाय जंगल में छोड़ देना, यह क्या इंसानियत के नाते न्याय है?’

उदात्त विचारों की श्रृंखला ने राज-भय को भी छिन्न-भिन्न कर दिया। रात के घनघोर अंधेरे में वह वृद्ध पिता को वापस घर ले आया और घर के तलघर में उन्हें रखने की प्रच्छन्न रूप से व्यवस्था कर दी।

समय ने करवट बदली। राजा को अपने शासन में योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति करनी थी। आठ-दस युवकों का चयन हुआ जिसमें वृद्ध का पुत्र भी शामिल था। राजा ने सभी की परीक्षा तय की और दूसरे दिन राख की रस्सी बनाकर लाने के लिए कहा।

शाम को युवक घर लौटा, मस्तक पर चिंता की रेखाएं थीं। वृद्ध पिता को समझते देर नहीं लगी। वृद्ध पिता ने पुत्र से चिंता का कारण पूछा। पुत्र ने बताया कि राजा ने कल राख की रस्सी लाने का सभी को निर्देश दिया है। राख की भला रस्सी कैसे बन सकती है? पिता ने कहा कि चिंता मत करो। तुम्हें मैं सुबह-सुबह राख की रस्सी दूंगा। लेकर चले जाना।

सुबह-सुबह पुत्र पिता के पास आया। पिता ने थाली में मूंज की रस्सी रखी। रस्सी को दियासलाई लगाकर जलाया। रस्सी तो अस्तित्व में नहीं रही, राख के बंट रस्सी के आकार में तैयार हो गए। पिता के निर्देशानुसार पुत्र रस्सी ले गया। राजा उसकी बौद्धिक क्षमता पर खुश हुआ और उसे अच्छे पद पर नियुक्त कर दिया।

कुछ दिनों के बाद राजा को अपने सभासदों में से एक मंत्री नियुक्त करना था। राजा ने सभी सभासदों को कहा कि एक ऐसा नगाड़ा बनाकर लाओ, जो अपने आप बजे।

सभी सोच में पड़ गए। युवक अपने पिताजी के पास समस्या लेकर गया। पिता ने कहा कि कल तुम्हें ऐसा नगाड़ा मिल जाएगा, ले जाना। दूसरे दिन पिता के हाथ का बनाया हुआ नगाड़ा लेकर वह राजा के पास पहुंचा। सभी सभासद आश्चर्यचकित थे। नगाड़ा रह-रह कर अपने-आप बज जाता। राजा भी आश्चर्य में पड़ गया। उसने युवा से पूछा कि इतनी जल्दी तुमने नगाड़ा कैसे बनाया? युवक ने कहा कि मैंने और कुछ नहीं किया, बने-बनाए नगाड़े के अंदर कुछ मधुमक्खियां भर दीं। मक्खियां उड़कर चमड़े से टकराती हैं, नगाड़ा अपने आप बज जाता है।

राजा को गौरव हुआ कि मेरे देश में इतना प्रतिभाशाली युवक भी है जो असम्भव लगनेवाले काम को तुरंत करके दिखलाता है। राजा ने युवक से पूछा—‘तुमने अपनी शिक्षा कहां पूरी की और तुम्हारी मेधा का क्या राज है?’ युवक ने विनम्रभाव से राजा से कहा कि अगर आप मेरी एक गुस्ताखी को माफ करेंगे तो मैं आपको रहस्य बता दूंगा। राजा ने कहा कि तुम्हारी सारी गुस्ताखियां माफ हैं, तुम रहस्य बताओ। युवक ने कहा कि मेरी सारी अक्ल मेरे वृद्ध पिताजी के दिमाग की उपज है।

राजाज्ञा के अनुसार मैं उन्हें जंगल में छोड़ने गया था, परंतु उनके मस्तिष्क के कौशल ने मुझे राजाज्ञा का उल्लंघन करने पर विवश कर दिया। मैं उन्हें वापस घर ले आया और वे प्रच्छन्न रूप से घर के तलघर में रह रहे हैं। कृपया मेरी गुस्ताखी माफ करें।

राजा का मस्तिष्क घूम गया। राजा ने सोचा कि वृद्ध व्यक्ति भले ही शरीर से कमजोर हो जाए, परंतु वह मानसिक रूप से इतना सक्षम होता है कि अपने अनुभवों के आधार पर हर समस्या का समाधान कर सकता है। राजा ने युवक को माफ कर दिया और अपने देश के कानून में भी संशोधन किया। अब कोई भी व्यक्ति वृद्ध को जंगल में छोड़ने नहीं जाएगा। उसे ससम्मान घर के एक सदस्य के रूप में बहुमान दिया जाएगा।

वर्तमान समय में प्रायः बूढ़े मां-बाप की उपेक्षा होती है। हम यह भूल जाते हैं कि सह-अस्तित्व का सिद्धांत क्या कहता है। वृद्ध व्यक्ति का भी अनुभव के क्षेत्र में विशेष महत्व है। वे परिवार को जिस प्रकार का मार्गदर्शन दे सकते हैं, उसका हम अनुमान भी नहीं लगा सकते।

आज परिवार का प्रारूप बदला है। अधिकतर एकल परिवार दिखाई देते हैं। सामान्यतया अकेली स्त्री ही एकल घर को संभालती है। पुरुष दिनभर श्रम करता है, परिवार के लिए साधन जुटाता है। स्त्री घर-आंगन का काम करती है, खाना बनाती है, राशन-पानी जुटाती है, बच्चों की जिम्मेदारी निभाती है। घर-परिवार में यदि पुरुष का अस्तित्व है तो महिला का भी अस्तित्व कम नहीं है। पुरुष हो और स्त्री न हो तो घर बिखर जाएगा,

सारा रूटीन अस्त-व्यस्त हो जाएगा। स्त्री हो और पुरुष न हो तो घर में आर्थिक समस्या तुरंत आ जाएगी। एक इकाई का जीवन निर्वाह मुश्किल हो जाएगा। दोनों का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। दोनों से परिवार बनता है। पुरुष और स्त्री के कार्यक्षेत्र अलग-अलग हैं, परंतु परिवार के लिए दोनों के श्रम और सह-अस्तित्व की जरूरत है।

कई परिवार ऐसे हैं जहां सिर्फ एक पुरुष के बलबूते पर घर-गृहस्थी चलने में कठिनाई होती है। पुरुष अपने अस्तित्व की उपयोगिता तो सिद्ध करता ही है, स्त्री को भी बाहर के क्षेत्र में काम करना पड़ता है उसे अपनी अतिरिक्त उपयोगिता सिद्ध करनी पड़ती है। ऐसी महिलाओं की जिम्मेदारी तो बढ़ ही जाती है, साथ-साथ उनका नैतिक दायित्व भी काफी बढ़ जाता है।

महिलाओं के लिए कुछ लक्ष्मणरेखाएं हैं, जिनकी सीमा के अंदर रहकर ही उन्हें कोई काम करना चाहिए। शील-गुणों का रक्षा-कवच सुरक्षित रखकर ही वे अपना अस्तित्व कायम रख सकती हैं। अपने चरित्र को गिरवी रखकर या खूंटी पर टांगकर उन्हें किसी भी प्रकार का काम नहीं करना चाहिए, भले ही उनके सामने आर्थिक समृद्धि एवं अवसरवादिता को भुनाने के कितने ही बड़े-बड़े प्रलोभन क्यों न हों? अन्यथा वे अपना अस्तित्व तो समाप्त करती ही हैं, साथ-साथ पारिवारिक धरातल का उनका अस्तित्व भी तार-तार हो सकता है।

हम सभी परिवार की एक इकाई हैं, परंतु हमें सामाजिकता में जीना पड़ता है। बहुत सारे लोगों का सहयोग लेना पड़ता है और बहुत सारे लोगों का सहयोग हमें करना पड़ता है। समाज के धरातल पर भी हमें एक-दूसरे का आदर-सम्मान करना जरूरी होता है, साथ ही दूसरों का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। ऐसा नहीं कर पाने की स्थिति में सामाजिक सह-अस्तित्व कायम नहीं रह पाता।

जार्ज बनार्ड शॉ एक सभा को संबोधित करने गए। उनके संबोधन के प्रारंभिक शब्द थे—‘मैं जिस सभा को सम्बोधित करने जा रहा हूँ, उसमें आधे लोग मूर्ख हैं।’ सभा में हलचल मच गई। सभी एक-दूसरे का मुंह देखने लग

गए। हर व्यक्ति सोचने लगा कि वक्ता ने उसे मूर्ख कह दिया। सभी खड़े हो गए, घोर विरोध हुआ। यह थी वह भावना, जिसमें समाज के श्रोता-समुदाय का सह-अस्तित्व स्वीकृत ही नहीं था। जार्ज बर्नार्ड शॉ ने श्रोताओं से माफी मांगी और दुबारा भाषण शुरू किया। इस बार सम्बोधन के प्रारंभिक शब्द थे- 'मैं जिस सभा को संबोधित करने जा रहा हूँ, उसमें आधे लोग विद्वान हैं।' बात वही थी, परंतु इस उक्ति में समाज के सह-अस्तित्व की भावना के प्रति स्वीकृति थी। समाज के प्रति सह-अस्तित्व की भावना का जितना अधिक विकास होता है, समाज भी फिर एक परिवार बन जाता है। भारतीय आर्ष परंपरा में जितने ऋषि-महर्षि, विद्वान एवं त्यागी-तपस्वी महापुरुष हुए हैं उन सभी के लिए वसुधा एक कुटुम्ब के समान थी और उनके रग-रग में सह-अस्तित्व की भावना भरी हुई थी।

समाज में सैकड़ों लोग एक साथ बैठते हैं। सभी व्यक्ति अगर एक साथ मिलकर कोई निर्णय करने बैठ जाएं तो क्या कोई निर्णय हो पाएगा? कदापि नहीं। निर्णय करने के लिए किसी एक व्यक्ति को निर्णायक चुनना पड़ेगा। परिवार में भी प्रायः यही स्थिति रहती है। सभी सदस्यों को किसी एक व्यक्ति का नेतृत्व और अनुशासन स्वीकार करना चाहिए। वह व्यक्ति सभी के विकास का पथ प्रशस्त करेगा। सह-अस्तित्व से ही परिवार के हर एक व्यक्ति का अस्तित्व सुदृढ़ एवं वर्चस्वी बनता है।

सह-अस्तित्व एक मानवीय गुण है। इसके अंदर मानवता के चतुर्दिक एवं सार्वकालिक विकास की अवधारणा है और यह भारतीय संस्कृति धर्म का एक प्रभावी घटक है। सह-अस्तित्व की व्याख्या किसी दार्शनिक ने महज तीन बिंदुओं में की है-

- (क) एक-एक का अस्तित्व है यानी स्वयं अच्छी तरह जीओ,
- (ख) मेरा अस्तित्व है, उसका भी है यानी जीओ और जीने दो,
- (ग) दूसरे के अस्तित्व को बहुमान दो यानी दूसरों के लिए अपना जीवन दो।

सह-अस्तित्व की यही अवधारणा भारतीय संस्कृति के मूल्यों को शिखर पर प्रतिष्ठित करती है और भारत को आज भी विश्वगुरु का हकदार बना सकती है। हम भारत की संतान हैं। हम भी सह-अस्तित्व के मूल्य को स्वीकार करें और इसे परिवार और समाज के धरातल पर प्रतिष्ठित करें।

परिशिष्ट

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा : जीवन-परिचय

बीसवीं सदी के प्रख्यात धर्मनायक, लाखों लोगों की आस्था के केन्द्र, गति, प्रकाश और ऊर्जा के पर्याय, महामानव आचार्यश्री तुलसी की एक विलक्षण कृति है—संघमहानिदेशिका महाश्रमणी असाधारण साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा। जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ में आचार्यों के निर्देशन में साध्वी-समाज का पांच दशकों तक कुशल नेतृत्व कर इन्होंने एक गौरवपूर्ण कीर्तिमान बनाया है। शुभ्रवसना, ज्योति-शक्तिस्वरूपा ये एक अप्रमत्त साधिका हैं जिनमें अध्यात्मनिष्ठा, गुरुनिष्ठा और संघनिष्ठा की त्रिवेणी प्रवाहित है।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी का जन्म 22 जुलाई सन् 1941 को कोलकाता महानगर में हुआ। इनके पिता का नाम सूरजमलजी बैद एवं माता का नाम छोटी बाई था। बालिका कला बचपन से ही कुशाग्रबुद्धि, विवेकशील एवं संकोची स्वभाव की थी। 15 वर्ष की आयु (सन् 1956) में उन्होंने पारमार्थिक शिक्षण संस्था में प्रवेश किया। लगभग 4 वर्षों की प्रशिक्षण अवधि के दौरान कला ने विनम्र एवं मेधावी मुमुक्षु के रूप में अपना स्थान बनाया।

गुरु पूर्णिमा का पवित्र दिन (8 जुलाई, सन् 1960) उम्र के 19वें पायदान पर, तेरापंथ की उद्गम स्थली केलवा में नवमाधिशस्ता आचार्यश्री तुलसी से चारित्र ग्रहण किया। गुरु की पवित्र सन्निधि में व्याकरण, कोश, तर्कशास्त्र, आगम, दर्शन आदि अनेक विद्या-शाखाओं का तलस्पर्शी अनुशीलन कर सप्तवर्षीय संघीय पाठ्यक्रम में विशेष योग्यता प्राप्त की। अध्ययन-अध्यापन और लेखन के साथ हजारों पद्य परिमाण कण्ठस्थ कर साध्वियों की अग्रिम पंक्ति में स्थान बना लिया।

12 जनवरी सन् 1972, गंगाशहर की गौरवशाली धरा पर आचार्यश्री तुलसी ने इन्हें साध्वीप्रमुखा पद पर नियुक्त किया। उस समय इनकी अवस्था मात्र 30 वर्ष थी। तब से लेकर अनवरत तेरापंथ की अष्टम साध्वीप्रमुखा के रूप में गुरुत्रयी (श्री तुलसी-महाप्रज्ञ-महाश्रमण) के पावन निर्देशन में ये विशाल साध्वी समुदाय का गरिमापूर्ण नेतृत्व कर रही हैं।

इनके बहुआयामी व्यक्तित्व, नेतृत्व और कर्तृत्व को विविध रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है—

प्रभावी प्रवक्ता

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी एक प्रभावशाली वक्ता हैं। इनका वक्तव्य एक-एक वाक्य को प्रेरणा-दीप बनाने वाला प्रतीत होता है। शब्दों का सहज प्रवाह, रोचक उदाहरण, संक्षिप्तता और नवीनता इनके वक्तृत्व की विरल विशेषताएं हैं। अनेकशः अनुभव होता है कि एक बार साध्वीप्रमुखाश्री का प्रवचन सुनने वाला व्यक्ति सदा के लिए इनके प्रभाव-क्षेत्र में आ जाता है। विशेष संघीय उपक्रम हो या सार्वजनिक कार्यक्रम, सभा-संस्था के अधिवेशन हों या दैनिक प्रवचन, गंभीर वक्तृत्व-शैली श्रोताओं के अन्तःकरण को परिवर्तन की दिशा में प्रस्थित कर देती है।

प्रबुद्ध साहित्यकार

साध्वीप्रमुखाश्रीजी साहित्य-क्षितिज पर एक प्रौढ़ लेखिका के रूप में प्रतिष्ठित हैं। प्राञ्जल भाषा, प्रभावी लेखन शैली, कसे हुए वाक्य तथा तथ्य-कथ्य की पूर्ण अभिव्यक्ति देने वाला शब्द-शिल्पन इनकी सृजन चेतना के अपूर्व वैशिष्ट्य हैं। भाव, भाषा और शैली का यह अद्भुत सौष्ठव पाठक को अथ से इति तक बांधे रखता है। गद्य, पद्य, इतिहास, उपन्यास, यात्रावृत्त, जीवनवृत्त आदि विविध विधाओं में इनकी लेखनी निर्बाध रूप से प्रवाहित हुई है।

इस साहित्यिक प्रतिभा ने न केवल सामान्य पाठकों को बल्कि देश के प्रसिद्ध साहित्यकारों, मूर्धन्य लेखकों और विचारकों को भी प्रभावित किया है।

नैसर्गिक कवयित्री

साध्वीप्रमुखाश्रीजी को निसर्गतः काव्य प्रतिभा प्राप्त है। इनकी कविताओं में संवेदनशीलता, सौन्दर्य बोध, क्रान्ति की गूंज और भक्ति का प्रवाह स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। 'सांसों का इकतारा' तथा 'धूप-छांव' दो प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं, जिनमें विविध विषयस्पर्शी 200 से अधिक कविताओं का समाहार है। इनके द्वारा रचित शताधिक गीतों में भक्ति-समर्पण के साथ-साथ युगीन समस्याओं का समाधान भी समाहित है। संस्कार-निर्माण एवं नारी सशक्तीकरण के सन्दर्भ में भी इन्होंने अन्तःस्पर्शी गीत रचे हैं।

'तुलसी-प्रबोध' एवं 'विकास की वर्णमाला' इनकी गागर में सागर तुल्य सरस गेय कृतियां हैं।

कुशल संपादिका

लेखिका और कवयित्री होने के साथ-साथ साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ख्यातिप्राप्त संपादिका भी हैं। आचार्यश्री तुलसी ने हिन्दी, संस्कृत और राजस्थानी भाषा में तत्त्वविद्या, दर्शन, योग, काव्य-साहित्य, जीवन-चरित्र, आध्यात्मिक-औपदेशिक गीतों से सम्बद्ध शताधिक ग्रन्थों की सर्जना की। उनमें अधिकांश ग्रन्थों का संपादन साध्वीप्रमुखाजी ने किया। तुलसी जन्म शताब्दी (सन् 2014) के अवसर पर तुलसी वाङ्मय को नए परिवेश में प्रस्तुत कर एक ऐतिहासिक कार्य किया। वाङ्मय में समाहित आचार्यश्री तुलसी की आत्मकथा 'मेरा जीवन : मेरा दर्शन' (25 खण्ड) को कालजयी ग्रन्थमाला माना जा सकता है। आगम सम्पादन कार्य में भी संपृक्त रहीं। विशालकाय भगवती सूत्र की जोड़ (7 खण्ड) का श्रमसाध्य सम्पादन इनकी स्थितप्रज्ञता का प्रतीक है।

व्यक्तित्व निर्मात्री

साध्वीप्रमुखाश्रीजी का आध्यात्मिक व्यक्तित्व चतुर्विध धर्मसंघ के अनेक व्यक्तियों को नई दृष्टि और नई दिशा देने वाला है। साध्वियों की प्रतिभा को निखारकर, युगानुरूप उन्हें आगे बढ़ाकर, संस्कारों की

सुरक्षा-संवर्धन कर ये अपना दायित्व निर्वहन कर रही हैं। संघीय धरातल पर साध्वी-समाज और महिला-समाज के अनेक सक्षम व्यक्तित्व इनके कर्तृत्व की फलश्रुति है। साध्वीप्रमुखाजी ने नारी की नैसर्गिक विशेषताओं, क्षमताओं और सेवाओं को उभारकर उसके व्यक्तित्व को अपरिमेय ऊँचाई प्रदान की है। अस्तित्व-बोध से लेकर दायित्व-बोध तक उसे प्रशिक्षित किया है। क्रान्त विचारों और सशक्त लेखनी द्वारा ये महिला समाज का आध्यात्मिक पथदर्शन कर रही हैं।

प्रशासन एवं प्रबन्धन-वेत्ता

साध्वीप्रमुखाजी का प्रशासन एवं प्रबंधन कौशल बेजोड़ है। इनकी मृदु अनुशासना साध्वियों के विकास का पथ प्रशस्त करती है। अयाचित कृपा, वत्सलता और आत्मीयतापूर्ण प्रेरणा इनकी प्रशासन शैली के आधारभूत अंग हैं। इसी प्रशासन-कौशल की बदौलत ये चतुर्विध धर्मसंघ की आस्था धाम बनी हुई हैं।

प्रशासनिक दक्षता के साथ-साथ इनकी प्रबन्धन पटुता भी विलक्षण है। समय-प्रबन्धन, कार्य-प्रबन्धन एवं व्यक्ति-प्रबन्धन में इनका वैशिष्ट्य विख्यात है। सद्यः स्फुरित मनीषा, स्फूर्ति और सुनियोजित कार्यशैली ने इनके जीवन में कामयाबियों के कीर्तिमान स्थापित किए हैं।

संघीय सम्मान

तेरापंथ के महान तेजस्वी गुरुत्रयी युग में अपनी विनम्र सेवाएं समर्पित कर साध्वीप्रमुखाजी कृतार्थता का अनुभव कर रही हैं। समय-समय पर युगद्रष्टा आचार्यों के मुख कमल से निःसृत उद्गार इनके वजनदार व्यक्तित्व और कर्तृत्व के प्रतीक हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी इस अद्वितीय कृति को **महाश्रमणी** (9 सितम्बर सन् 1989) और **संघमहानिदेशिका** (8 नवम्बर सन् 1991) जैसे महनीय पदों से तथा वर्तमान अनुशास्ता ने **असाधारण साध्वीप्रमुखा** (1 अगस्त 2016) एवं 'अहिंसा यात्रा को विभूषित करने वाली विभूति' (6 दिसम्बर 2020) के रूप में प्रतिष्ठित किया।

साध्वीप्रमुखाजी द्वारा सम्पादित साहित्य

(तुलसी वाङ्मय)

आत्मकथा साहित्य

1. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
2. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
3. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
4. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
5. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
6. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
7. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
8. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
9. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
10. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
11. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
12. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
13. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
14. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
15. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
16. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
17. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
18. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
19. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
20. मेरा जीवन : मेरा दर्शन

21. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
22. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
23. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
24. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
25. मेरा जीवन : मेरा दर्शन

गद्य साहित्य

26. महावीर : जीवन और दर्शन
27. हे प्रभो! यह तेरापंथ
28. तेरापंथ का प्राणतत्त्व
29. क्रान्तिकारी आचार्य भिक्षु
30. प्रज्ञापुरुष जयाचार्य
31. महामनस्वी आचार्यश्री कालूगणी
32. अध्यात्म : अन्तस का स्पर्श
33. निर्ग्रन्थ प्रवचन ही परम सत्य है
34. अर्हत ने कहा
35. जैन दर्शन : आत्म दर्शन
36. जैन तत्त्वविद्या
37. अहिंसा : अमृत का महासागर
38. धम्मं सरणं पवज्जामि
39. जैन जीवनशैली
40. निर्माण : नए मानव का
41. प्रेक्षाध्यान : अध्यात्म का सोपान
42. अणुव्रत : गति प्रगति
43. अणुव्रत के आलोक में
44. अणुव्रत : नैतिकता का शंखनाद
45. शिक्षा : रूपान्तरण की प्रक्रिया
46. सन्देश : देश के नाम

47. दोनों हाथ : एक साथ
48. कुहासे में उगता सूरज
49. सार्थकता संवाद की
50. मेरी अनुभूतियां : मेरी कृतियां
51. सीख सुमत
52. तुलसी साहित्य की बोधकथाएं

काव्य साहित्य

53. माणक-डालिम-चरित्र
54. कालूयशोविलास-1
55. कालूयशोविलास-2
56. मगन चरित्र
57. सेवाभावी मुनि चम्पक
58. लाडां-वदना-सुजस
59. भरत-मुक्ति
60. चन्दन की चुटकी भली
61. आत्मोदय की ओर
62. आत्मा के आसपास
63. श्रावक-संबोध
64. पण्णा समिक्खए
65. तेरापंथ-प्रबोध : सम्बोध
66. नन्दन निकुंज
67. सोमरस
68. सुधारस
69. तुलसी-पदावली

संस्कृत साहित्य

70. जैनसिद्धान्तदीपिका
71. भिक्षुन्यायकर्णिकामनोनुशासने

72. काव्यामृतम्

73. निबन्धनिकुरम्बम्

पत्र : सन्देश : संवाद साहित्य

74. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-1

75. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-2

76. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-3

77. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-1

78. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-2

79. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-3

80. सन्देश : राष्ट्र नेताओं के नाम

81. संवाद : शिखर पुरुषों के साथ

82. संवाद : प्रबुद्ध पुरुषों के साथ

83. तुलसी पद्य साहित्य : सन्दर्भ कोश – 1

84. तुलसी पद्य साहित्य : सन्दर्भ कोश – 2

जय साहित्य

85. भगवती जोड़ – 1

86. भगवती जोड़ – 2

87. भगवती जोड़ – 3

88. भगवती जोड़ – 4

89. भगवती जोड़ – 5

90. भगवती जोड़ – 6

91. भगवती जोड़ – 7

92. झीणी चर्चा (सानुवाद)

93. आराधना (सानुवाद)

साध्वीप्रमुखाजी द्वारा आलेखित साहित्य

यात्रा साहित्य

1. रण की गोद में
2. जा घर आए संत पाहुने
3. तीन समुद्रों के तट पर
4. नए प्रदेश : नए अनुभव
5. जोगी तो रमता भला
6. बहता पानी निरमला
7. पांव-पांव चलने वाला सूरज
8. पंजाब में अध्यात्म का उजाला
9. संत चरण गंगा की धारा
10. जब महक उठी मरुधर माटी
11. परस पांव मुसकाई घाटी
12. गांधी के गुजरात में
13. धर कूचां : धर मजलां
14. अरावली के अंचल में
15. उत्सव : आधी शताब्दी का
16. अमृत घट छलके
17. भारत ज्योति बनाम आत्मज्योति
18. अमृत पुरुष : जन्मभूमि में
19. यमुना के तीर पर
20. परिक्रमा प्रकाश की

गद्य साहित्य

21. अकथ कथा गुरुदेव की
22. लिखन बैठि जाकी छवि
23. करत-करत अभ्यास
24. कदम-दर-कदम
25. आधी दुनिया
26. बदले युग की धारा
27. विकास पुरुष ऋषि हेम
28. स्मृति के दर्पण पर
29. गणं सरणं गच्छामि
30. आयरियं सरणं गच्छामि
31. धम्मो दीवो पइट्ठा
32. एस धम्मे धुवे
33. सोपान निर्माण के
34. सत्यं शिवं सुन्दरं
35. सफर सम्पादन का – 1
36. सफर सम्पादन का – 2
37. प्रेरणा का दरिया

काव्य साहित्य

38. सांसों का इकतारा
39. धूप-छांव
40. बिन बाती बिन तैल
41. तुलसी-प्रबोध
42. विकास की वर्णमाला

संस्मरण साहित्य

43. प्रेरणा : पल दो पल की – 1
44. प्रेरणा : पल दो पल की – 2
45. प्रेरणा : पल दो पल की – 3

46. प्रेरणा : पल दो पल की – 4

47. प्रेरणा : पल दो पल की – 5

48. प्रेरणा : पल दो पल की – 6

पत्र साहित्य

49. धरोहर अक्षरों की – 1

50. धरोहर अक्षरों की – 2

51. धरोहर अक्षरों की – 3